उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत

उठो जागो और लक्ष्य प्राप्त किए बिना विश्राम मत लो।

विवेक शिखा

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा की एकमात्र हिन्दी मासिकी

वर्ष—३ | मई—१९८४ | अंक—५

इष्टदेव का हृदय-कमल में रूप अनूप दिखा। निजानन्द में रखती अविचल विमल, 'विवेक शिखा'॥

संपादक

डॉ० केदारनाथ लाभ

सह संपादक

शिशिर कुमार मल्लिक

संपादकीय कार्यालय :

रामकृष्ण निलयम्

जयप्रकाश नगर,

छपरा—८४१३०१

(बिहार)

सहयोग राशि

षड् वार्षिक	१०० रु०
त्रैवार्षिक	५५ रु०
वार्षिक	२० रु०
एक प्रति	२ रु० ५० पैसे

रचनाएँ एवं सहयोग - राशि संपादकीय कार्यालय के पते पर ही भेजने की कृपा करें।

श्रीरामकृष्ण ने कहा है

(१)

स्वयं को ज्यादा चतुर समझना उचित नहीं। कौआ खुद को कितना चालाक समझता है! वह कभी फन्दे में नहीं फँसता। भय की तनिक आशंका होते ही उड़ जाता है। कितनी चतुराई के साथ वह खाने की चीजें उड़ा ले जाता है! पर इतना होते हुए भी वह विष्ठा खाकर मरता है। ज्यादा चालाकी करने का यही परिणाम होता है।

(२)

"मैं लेक्चर दे रहा हूँ, तुम लोग सुनो।" इस प्रकार का अहंभाव, आचार्यपन का अभिमान नहीं रखना चाहिए। अज्ञान-अवस्था में ही अहंकार रहता है, ज्ञान होने पर नहीं। जिसमें गर्व नहीं उसी को ज्ञानलाभ होता है। बरसात का पानी नीची जमीन पर ही ठहरता है, ऊँची जगह पर ठहर नहीं पाता।

(३)

हाथी को मुक्त छोड़ दिया जाए तो वह चारों ओर पेड़-पौधों को तोड़ते मरोड़ते हुए चलने लगता है, पर जब महावत उसके सिर पर अंकुश का वार करता है तब वह शान्त हो जाता है। इसी प्रकार, मन को बेलगाम छोड़ देने पर वह तरह-तरह की फालतू चीजों का विचार करने लगता है, पर विवेकरूपी अंकुश का वार करते ही वह शान्त, स्थिर हो जाता है।

(४)

गाँवों में धान के खेतों के किनारे में गढ़े बनाकर उसमें बाँस के बने जाल लगा दिए जाते हैं। गढ़े के अन्दर चमकते हुए पानी की झलक को देख छोटी-छोटी मछलियाँ मारे आनन्द के उसमें घुस पड़ती हैं, पर एक बार घुसने पर फिर वे उसमें से बाहर नहीं निकल पातीं, उसी में फँस जाती हैं। इसी तरह संसार की बाहरी चमक-दमक से मोहित होकर लोग उसमें प्रवेश कर जाते हैं और उसकी उलझन में फँसकर मारे जाते हैं। संसार के भँवर में प्रवेश करना आसान है किन्तु उसमें से बाहर निकल आना अत्यन्त कठिन।

प्रभु को करो प्रणाम रे !

—श्री सारदा तनय

प्रेम मगन बन गाओ हे मन
रामकृष्ण-मधुनाम रे ।
रामकृष्ण कह, रामकृष्ण कह,
निस दिन आठों जाम रे ॥

परब्रह्म वे नरतनु-धारी,
दीनबन्धु भवबन्धन-हारी ।
सकल मनोरथ पूरणकारी,
रामकृष्ण गुणधाम रे ॥

मोहनिशा को दूर हटाने,
दुखियों के सब दुःख मिटाने ।
ज्ञान-भक्ति-वैराग्य लुटाने,
आये प्राणाराम रे ॥

ज्ञान-सूर्य अब प्रकट हुआ है,
माया का अंधियार गया है ।
जागो-जागो शुभ प्रभात में,
प्रभु को करो प्रणाम रे ॥
प्रेम मगन बन गाओ हे मन,
रामकृष्ण-मधुनाम रे ॥

सम्पादकीय सम्बोधन

बिन् हरि भजन न भव तरिअ

मेरे आत्मस्वरूप मित्रो,

वह एक स्कूल इन्सपेक्टर थे। बड़े व्यवहार कुशल और संयमी। जीवन भर मितव्ययिता और सादगी से जीने का अभ्यास किया। बराबर काम में लगे रहते। कभी उन्हें आफिस और घर के काम से दम मारने की फुरसत नहीं मिली। उस दिन मुझसे मिलने आये तो चेहरे पर कुछ परेशानियाँ तैर रही थीं। पूछने पर उन्होंने बताया, "आप तो जानते ही हैं, मैं बेकार बैठने वाला आदमी नहीं। आराम हराम है—यह मेरा जीवन-दर्शन रहा। लेकिन अगले वर्ष मैं अवकाश-ग्रहण कर सरकारी कार्य से निवृत्त हो जाऊँगा। यही सोचकर अभी से कुछ भयभीत हो रहा हूँ। शेष जीवन कैसे कटेगा ? भविष्य निधि और ग्रैच्युटी से एक अच्छी खासी रकम मिल जायगी। उससे गुजारा तो हो सकता है, लेकिन निठल्ला तो मुझसे रहा नहीं जायगा। सारा जीवन क्रियाशीलता और कर्मठता में बीता है। क्या अंत में केवल सुबह टहल कर, दिन में हाजमे की गोली खाकर और रात में आकाश के तारे गिनकर जीना होगा ? वह तो होने से रहा ! इसी से सोचा है, क्यों न एक प्रेस बैठा लूँ ? या फिर राजनीति में कूद पड़ूँ। या फिर लोक सेवा का अन्य मार्ग चुनूँ। आप से राय लेने आया हूँ कि मेरे लिए कौन सा काम बेहतर रहेगा ?"

मेरे यह कहने पर, 'अब और काम करने की क्या जरूरत है ? जीवन भर आप काम ही करते रहे, अब तो विश्राम करें। परिवार की देख-भाल आपके बाल बच्चे कर लेंगे। आप परम विश्राम की ओर लौटें। परम विश्राम ईश्वर के भजन-आराधन से मिलता है। अब तक आप देह का जीवन जीते रहे, अब आप विदेह का जीवन जियें। शरीर के स्तर से उठकर आत्मा के धाम में विश्राम करने की चेष्टा करें। आप देखेंगे, वह एक ऐसा जीवन है जो न आपको निकम्मा रहने देगा न, थकान भरेगा। उस आनन्द के अमृत-सागर की एक बूँद भी पाकर आप धन्य हो जायेंगे।'—वे विदक पड़े। बोले,—'वैसे आप ठीक ही कहते हैं, लेकिन वह सब बाद में होगा। अभी काफी जीवन भरा पड़ा है। असल में जीवन का रस तो अब ही लेना है। सिर पर कोई मालिक-अधिकारी रहेगा नहीं और काम का काम करूँगा ऊपर से पैसे भी मिलेंगे। आराम यह है। लोक-सेवा के बहाने आज सभी अपने सुख-मौज की खोज ही तो कर रहे हैं। मैं भी कुछ वैसा ही करना चाहता हूँ।' मैं चुप हो गया। जहाँ कुछ कहना निष्फल हो, वहाँ बोलना व्यर्थ है।

संसार में चार प्रकार के जीव होते हैं—बद्ध जीव, मुमुक्षु जीव, मुक्त जीव और नित्यमुक्त जीव। बद्ध जीव संसार की विषयासक्ति में सदैव बँधे रहते हैं। वे कामिनी और कांचन के पाश में आबद्ध रहते हैं और उसी में सुख मानते हैं। उनकी तृष्णा कभी बूढ़ी नहीं होती। वे भले बूढ़े हो जायँ। जैसे जाल में फँसी मछलियाँ या बहेलिये की फाँस में फँसी चिड़ियाँ मरने के पहले तक जान ही नहीं पातीं कि वे किस कदर फँस चुकी हैं और जाल में ही उछलती-कूदती रहती हैं, उसी प्रकार बद्ध जीव माया के हजार बन्धनों में बँधे रहकर भी इससे मुक्त होने की कभी चेष्टा नहीं करते, बल्कि वे अपने लिए रोज नये-नये जालों का सृजन कर सुख-बोध का स्वांग रचते रहते हैं।

मुमुक्षु जीव को अपने मायिक या कार्मिक बन्धनों

का ज्ञान होता है और वे उससे मुक्त होने का प्रयास करते हैं।

जो जीव अपने बन्धनों को अपने प्रयास द्वारा काट लेने में सफल हो जाते है उन्हें मुक्त जीव कहा जाता है।

और जो माया के बंधन में, पाश में कभी फँसते ही नहीं वे नित्यमुक्त जीव हैं। इसी से विवेकानन्द को श्रीरामकृष्ण नित्यमुक्त कहा करते थे।

बद्ध जीव के सम्बन्ध में श्री रामकृष्ण कहा करते थे, 'बद्ध जीव संसार में कामिनी-कांचन में वँधे रहते हैं, उनके हाँथ-पाँव बँधे हुए हैं···देखा कि समय नहीं कट रहा है तो ताश खेलने लगते हैं।" हमलोगों की साधारणत: यही स्थिति है। हम वँधे हैं--कामिनी-कांचन के व्यामोह में बँधे हैं। यह एक वात है। लेकिन इसका वोध ही हमें नहीं हो कि हम बँधे हैं—यह भयंकर वात है। वंधन का वोध होगा तव तो हम उसे काटने की चेष्टा करेंगे। हम भीतर से आकुल होंगे, हाथ-पैर पटकेंगे, चीखेंगे, चिल्लायेंगे और अगर खुद से वंधन काटने में असमर्थ हों तो किसी और को पुकारेंगे—भाई थोड़ी मदद करो, इस वंधन को काटने में। लेकिन अगर हमें यह भान ही न हो कि हम बंधन में बुरी तरह जकड़े हैं तो फिर उसे काटने की चेष्टा ही हम कैसे कर सकते हैं ? सच तो यह है कि बंधन बंधन नहीं लगकर सुख का साधन लगने लगेगा। नाले का कीड़ा क्या गंगाजल में रहना चाहेगा ? वंधन के अभ्यासी बंधन को ही सुख का राजभवन मानने लगते हैं। उनको बन्धन से छुटकारा पाने की यदि राह आप सुझा दें तो वे आपको अपना मित्र नहीं; शत्रु समझ बैठेंगे। वर्षों तक एक किसान के खूँटे पर बँधी रहने वाली गाय एक दिन जव किसान के द्वारा खोल दी गयी तव वह धूम-धाम कर शाम को फिर अपने खूँटे पर बँधने के लिए आ गयी। बहुत दिनों तक पिंजड़े में रहने वाली चिड़िया को उड़ा दिया जाय तो भी वह अपने-आप पिंजड़े पर आकर बैठ जाती है। यह है बद्ध जीव की नियति ! और इसीसे बंधन से मुक्त होने के लिए चेष्टा करने की वात सुनकर, परम विश्राम में और निजानन्द विश्रान्त रहने की वात सुन कर प्राय: संसारी बद्ध जीव दु:खी या क्रुद्ध हो जाते हैं।

लेकिन हमारे माथे पर सूरज हो और हम उसकी सत्ता नहीं स्वीकारें तो भी उसके ताप से हम मुक्त नहीं हो सकते। हम बंधन में हों और उसकी सत्ता नहीं स्वीकारें तो भी उसकी पीड़ा से हम मुक्त नहीं हो सकते। यह अलग बात है कि किसी को उस पीड़ा का एहसास शीघ्र हो जाता है और किसी को देर से।

भगवान बुद्ध को इस पीड़ा का एहसास कुछ जल्दी ही हुआ था। स्वभावत: इस पीड़ा से मुक्त होने की उन्होंने चेष्टा की। मुक्त हुए और उन्होंने घोषणा की—'सर्वं क्षणिकं सर्वं दु:खम्'। सब कुछ इस जगत में क्षणिक और दु:खमय है। श्रीकृष्ण की भी गीता में ऐसी ही एक उक्ति है—'अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्वमाम्'—इस अनित्य और सुखहीन संसार को प्राप्त कर मुझे भजो। बुद्ध ने संसार को क्षणिक कहा और कृष्ण ने अनित्य। बुद्ध ने संसार को दु:खमय कहा और श्रीकृष्ण ने सुखहीन—असुखम्। बुद्ध ने इस दुख से मुक्त होने के उपाय वताए हैं। इन उपायों को अष्टांगिक मार्ग कहते हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक् समाधि। श्रीकृष्ण ने गीता में ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति को सांसारिक जीवन के दु:खों से मुक्त होने के मार्ग के रूप में प्रस्तुत किया है।

इतने सारे उपायों से हमारा मन घबड़ा जाता है। यद्यपि ये सारे मार्ग सही हैं और भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोगों के लिए ही भिन्न-भिन्न मार्ग सुझाये गये हैं, तथापि आज की परिस्थति में, जवकि हमारा जीवन भौतिकता में आकंठ मग्न हो गया है, भक्ति से उत्तम मार्ग और कोई नहीं है। इसी से श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—"देखो, कलियुग में नारदीया भक्ति है। आजकल मनुष्य के पास इतना समय और सामर्थ्य नहीं है कि वह योग-यज्ञ या संध्या-वन्दनादि में इतना लम्वा समय बिता सके। अव तो केवल गायत्री करने से ही होगा। सन्ध्या

का लय गायत्री मे होता है और गायत्री का लय ऊँकार में।"

क्या है नारदीया भक्ति ? यह है परमरूपा और अमृत स्वरूपा। अर्थात् नारदजी के अनुसार भगवान में अनन्य प्रेम होने से भक्ति होती है। जब जीव अन्य सारे साधनों या मार्गों—ज्ञान, कर्म, योग आदि—को छोड़कर अहंकार से मुक्त हो अपने हृदय को एकमात्र प्रभु से जोड़ लेता है तब उस भक्ति को प्रेमा भक्ति या परा भक्ति कहते हैं। जीव की सारी ममता, सारी प्रियता और सारी रागात्मकता केवल अपने इष्टदेव के प्रति ही जब हो जाती है तब उस भक्ति को परमप्रेम-रूपा कहते हैं। प्रभु में प्रेम की यह अनन्यता अमृत की भाँति होती है। ऐसी भक्ति सबसे मीठी, सब से रुचिकर होती है। इस प्रेमामृत का पान कर जीव धन्य और अमर हो जाता है। इसी से यह भक्ति अमृत स्वरूपा भी है। ऐसी भक्ति के सामने भक्त मुक्ति को भी नहीं चाहता—अर्थ और काम की तो बात ही क्या ? इसी से नारद कहते हैं—यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति। (नारद भक्ति सूत्र,४) अर्थात् इस परम प्रेम रूपा और अमृतरूपा भक्ति को पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है।

ऐसी भक्ति होने पर भक्त न अन्य किसी वस्तु की इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तु में आसक्त होता है और न उसे विषयों के भोगों और विलासों में कोई आकर्षण या उत्साह शेष रह जाता है। तुलसीदासजी कहते हैं—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निर्वान।
जनम जनम सिय-राम-पद, यह वरदान न आन॥

वस्तुतः जिस भाग्यवाम ने अपनी समस्त चित्तवृत्तियों को संसार के आकर्षणों से समेट कर उन कृपासिन्धु, दया निधान, अनन्त करुणामय, सर्व समर्थ, परम ऐश्वर्य-वान् अपने इष्टदेव श्रीभगवान् के चरण-कमल में अर्पित कर दिया है उसे अब और क्या चाहिए ? उसे अन्यत्र कहाँ और किसमें आनन्द मिलेगा ? जरूरत है केवल इस बात की कि हम अपना हृदय प्रीतिपूर्वक अपने आराध्य देव के श्रीचरणों में न्योछावर कर दें। अहा ! जिस बड़भागी ने ऐसी प्रीति की है वही जानता है इसका सुख और आनन्द। यह प्रेमार्पण है ही कुछ अनोखा। इस प्रेम में लेना कुछ नहीं है, केवल देना है, केवल उत्सर्ग करना है, केवल अर्पित-समर्पित करना है; अपने को, अपने आप को, उस अनन्त ऐश्वर्यवान के ऊपर।

कुछ लोग कहते हैं कि भक्ति के मूल में प्रेम होता हैं और प्रेम अपने परिणाम में दुःखदायी होता है। प्रेम दुःख का कारण है। दुःख से बचना है तो प्रेम से अलग रहो और प्रेम से अलग रहने पर भक्ति हो ही नहीं सकती। फिर उपाय क्या है ? क्या भक्ति प्रेममूला होने के कारण त्याग के योग्य है ? नहीं, कदापि नहीं।

बात यह है कि हम जिसे प्रेम कहते हैं वह प्रेम है ही नहीं, वह है प्रेम का स्वांग। एक प्रकार का छल या आत्म-प्रवंचना है वह। प्रेम के नाम पर जो इतने दुःख-दायी कांड होते रहते हैं उनके मूल में जाने पर हम पायगे कि वह प्रेम था ही नहीं, वह तो काम था, आसक्ति थी, एक प्रकार की तीव्र और उदग्र भोग विलास की आकांक्षा-ऐषणा थी। क्यों किसी प्रेमी ने अपनी प्रेमिका की हत्या कर दी ? क्यों किसी प्रेमी ने अपनी प्रेमिका के चेहरे पर तेजाब छिड़क दिया ? क्यों प्रेमिका ने आत्मदाह कर लिया ? अगर गहरे में हम देखें, तो पायँगे कि वहाँ कामोत्तजना की प्रधानता ही कार्य कर रही थी। काम और प्रेम में अन्तर है—सीधा और साफ अन्तर। काम आत्मोन्मुखी होता है, प्रेम परोन्मुखी। काम में हम अपने सुख, आनन्द और मौज-मजे पर ध्यान देते हैं, प्रेम में अपने प्रियपात्र के सुख और आनन्द में ही हमारी सारी चेष्टाएँ निरत रहती हैं। गोपियों का भगवान कृष्ण के प्रति ऐसा ही प्रेम था। श्रीरामकृष्ण परमहंस देव कहा करते थे—"कृष्ण के सुख में सुखी। मेरा जो हो, तुम सुखी रहो। यही सबसे ऊँची अवस्था है। गोपियों का यही बड़ा ऊँचा भाव था। अन्यत्र

उन्होंने कहा है—"गोपियों की प्रेमा भक्ति थी। अहंता और ममता ये दो वस्तुएँ प्रेमाभक्ति में रहती हैं। अहंता अर्थात् मैं यदि कृष्ण की सेवा नहीं करूँ तो उन्हें कष्ट होगा। यहाँ ईश्वर बोध नहीं रहता। और ममता यानी 'मेरा-मेरा' करना। श्रीकृष्ण के पाँवों में काँटे चुभ जायँगे इसलिए गोपियों का सूक्ष्म शरीर श्रीकृष्ण के चरणों के नीचे रहा करता था। गोपियों को इतनी ममता थी।" यह है प्रेम की दशा। इसी से कवि कहते हैं:—

आत्मेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा, तार नाम काम।
कृष्णेन्द्रिय-प्रीति-इच्छा, धरे प्रेम नाम॥
कामेर तात्पर्य निज संम्भोग केवल।
कृष्ण-सुख-तात्पर्य प्रेम तो प्रबल॥
अतएव काम प्रेमे बहुत अन्तर।
काम अन्धतम, प्रेम निर्मल भास्कर॥

यह निरहैतुक प्रेम, निःस्वार्थ प्रेम अपने प्रभु से कैसे होगा? उपाय है। पहले तो यह ज्ञान होना चाहिए कि जिसके प्रति मेरा प्रेम अर्पित होगा वह सर्व-समर्थ परम करुणामय, जगद्व्यापी, संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार के कारण, अनन्त ऐश्वर्यवान, चिरंतन सुन्दर सगुण प्रभु हैं। इस ज्ञान के अभाव में विश्वास नहीं होगा, श्रद्धा नहीं होगी। और विश्वास होने पर, प्रेम होगा। प्रेम से ही भक्ति होगी।

जाने विनु न होइ परतीती।
विनु परतीति होइ नहि प्रीती॥
प्रीति विना नहि भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

हमारा प्रेमास्पद स्वयं ईश्वर है। यह भाव लाकर अपने प्रेमास्पद से प्रेम किया जाता है। यह प्रेमास्पद कोई हो सकते हैं--भगवान् शिव, श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, भगवान बुद्ध, भगवान श्रीरामकृष्ण या फिर जगन्माता उमा-भवानी, श्रीजनक किशोरी, श्रीराधा, श्रीकाली या श्री श्री माँ सारदा। इनमें से किन्हीं एक को अपना आराध्य बना लें हम। फिर इनसे कोई एक संबन्ध जोड़ लें। वे मेरे पिता हैं, या मित्र हैं, या पुत्र हैं या स्वामी हैं या माँ हैं। इनमें से कोई एक सम्बन्ध बना लें। मैं उनका पुत्र हूँ, मित्र हूँ, सेवक हूँ, प्रिया हूँ, इनमें से कोई एक भाव अपने लिए रख लें। फिर अपने सारे भाव उनको ही अर्पित करें। अपना सुख-दुख उन्हें ही कहें। उनके सिवा कौन अपना है? अतः सर्वात्मना उनको ही अपना सब कुछ निवेदित करते रहें और एक निष्ठ भाव से उनका ही निरंतर भजन करते रहें। कबीर कहते हैं-

कबिरा काजर-रेखहू,अब तो दई न जाय।
नैननि पीतम रमि रहा,'दूजा कहाँ समाय॥
आठ पहर चौसठ घड़ी, मेरे और न कोय।
नैना माहीं तू बसै, नींदहि ठौर न होय॥
प्रीति जो मेरे पीव की, पैठी पिंजर माँहि।
रोम-रोम पिउ-पिउ करै, मुख की सरधा नाहि॥
या—साँस-साँस, सुमिरन करै, यह उपाय अति नीक।

हाँ, रोम-रोम पिउ-पिउ करे—प्रियतम का स्मरण भजन करे तव तो भक्ति है, नहीं तो वकवास। उस प्रियतम के सिवा और है क्या? कवि कहता है—

कानन दूसरो नाम सुनै नहि
एकहि रंग रंगो यह डोरो।
धोखेहु दूसरो नाम कढ़ै,
रसना मुख वाँधि हलाहल वोरो॥
ठाकुर चित्त की वृत्ति यहै,
हम कैसहु टेक तजै नहि मोरो।
वावरी वे अँखियाँ जरि जायँ
जो साँवरो छाँड़ि निहरति गोरो॥

भगवान् श्रीकृष्ण ने कुरुक्षेत्र की समरभूमि में जव किंकर्त्तव्यविमूढ़ अर्जुन को अपने विश्वरूप का दर्शन करा दिया तव एक पते की वात उन्हें वतायी—

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गी० ११।५३-५४)

'हे अर्जुन ! जैसा तुमने मुझे देखा है वैसा वेद, तप, दान, यज्ञ आदि से मुझे देखना संभव नहीं है। हाँ, केवल मात्र अनन्य भक्ति के द्वारा ही इस प्रकार मुझे देख पाना, मुझे तत्त्व से जानना और मुझमें प्रवेश पाना संभव है।'

श्रीरामकृष्ण ने करुणापूर्वक आज के युग के अनुसार लोगों को भक्ति के लिए कहा—वने, मने, कोने। अर्थात् भजन वन में करो, अगर यह संभव न हो तो घर के किसी कोने में करो और यह भी संभव न हो तो मन ही मन करो। कितनी सुविधा प्रदान कर दी है उन्होंने ! अब यह हमारा कर्त्तव्य है कि जीवन में परम विश्राम के लिए यह भजन-साधन आज से और अभी से शुरू कर दें। तुलसीदास कहते हैं कि श्रीराम की कृपा के लव-लेश मात्र से ही उन्हें परम विश्राम मिला—

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदास हूँ।
पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ॥

भगवान की यह कृपा उसे ही प्राप्त होती है जो उन्हें प्रेमपूर्वक भजते हैं। ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्। कृष्ण कहते हैं— जो प्रेम से मुझको भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ।

हम सुख की तलाश में, निकम्मेपन से बचने के लिए अवकाश प्राप्त जीवन में भी अर्थोपार्जन कर सुख और विश्राम के लिए कितने विकल हैं? लेकिन वह विश्राम, परम विश्राम क्या बिना प्रभु-कृपा के मिल सकता है? और प्रभु की कृपा क्या बिना भक्ति के मिल सकती है? तुलसीदास जी कहते हैं—

वारि मथे बरु होय घृत, सिकता तें बरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धान्त अपेल ॥

भगवान् श्रीरामकृष्ण से मेरी प्रार्थना है कि वे हम सब को अपनी परम प्रेमा भक्ति प्रदान कर हमारे लिए परम विश्राम का पथ प्रशस्त करने की कृपा करें। जय भगवान् श्रीरामकृष्ण !

■

संसार में ज्ञान के प्रकाश का विस्तार करो; प्रकाश का विस्तार करो; प्रकाश, प्रकाश लाओ। प्रत्येक व्यक्ति ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करे। जब तक सब लोग भगवान के निकट न पहुँच जायँ, तब तक तुम्हारा कार्य पूरा नहीं हुआ है। गरीबों में ज्ञान का विस्तार करो, धनियों पर और भी अधिक प्रकाश डालो; क्योंकि निर्धनों की अपेक्षा धनियों को अधिक प्रकाश की आवश्यकता है। अनपढ़ लोगों को भी प्रकाश दिखाओ। शिक्षित मनुष्यों के लिए और अधिक प्रकाश चाहिए, क्योंकि आजकल शिक्षा का मिथ्याभिमान खूब प्रबल हो रहा है। इसी तरह सबके निकट प्रकाश का विस्तार करो।

—**स्वामी विवेकानन्द**

भारत के नवजागरण में श्रीरामकृष्ण का अवदान

—स्वामी ब्रह्मेशानन्द
रामकृष्ण मिशन सेवाश्रम, वाराणसी

[रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना में आयोजित श्रीरामकृष्ण-जन्मोत्सव के अवसर पर ११ मार्च १९८४ ई० को स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी द्वारा दिये गये प्रवचन का सार-रूप यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है—स्वयं प्रवचनकर्ता द्वारा—सं०]

भारत के आधुनिक नवजागरण में योगदान करने वाले महापुरुषों के विषय में सोचने पर सामान्यतः महात्मा गाँधी तथा बालगंगाधर तिलक जैसे राजनैतिक नेता, राममोहन राय जैसे समाज-सुधारक, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाजसेवक, तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर और बंकिमचंद्र चटर्जी जैसे कवि व साहित्यकारों के ही नाम हमारे मन में उभरते हैं। लेकिन आधुनिक गवेषणाओं, विशेषकर श्री शंकरीप्रसाद वसु द्वारा संकलित सामग्री के अध्ययन तथा विश्लेषण द्वारा यह सिद्ध हो गया है कि गत सदी के अन्त तथा वर्तमान सदी के प्रारंभ में आरंभ हुए भारतीय नव जागरण के कर्णधार स्वामी विवेकानन्द ही थे। सितम्बर सन् १८८३ ई० को शिकागो में हुई धर्म महासभा में स्वामी विवेकानन्द की अप्रत्याशित तथा अभूतपूर्व सफलता से पराधीन, हतश्री भारत में, जो अपना पुरातन ऐश्वर्य और आत्मगौरव भूलकर परराष्ट्र-मुखापेक्षी एवं विदेशों का अन्धानुसरण करने को तत्पर हो रहा था, आशा, उत्साह एवं आत्मविश्वास की एक विशाल लहर उठी थी। इसने सर्वप्रथम धार्मिक नवजागरण का रूप धारण किया था और इसी ने बाद में राजनैतिक व सामाजिक नवचेतना का भी संचार किया था। स्वामी विवेकानन्द को भारतीय नवजागरण का प्रणेता स्वीकार करने पर भी उसमें श्रीरामकृष्ण का प्रत्यक्ष अवदान स्वीकार करना कठिन है, विशेषकर जबकि श्रीरामकृष्ण के उपदेशों में भारत तथा उसकी उन्नति के उपायों का इंगित तक नहीं पाया जाता। अतः श्रीरामकृष्ण के अवदान को समझने के लिये सर्वप्रथम हमें 'भारत' तथा 'नव जागरण' का अर्थ भली भाँति समझ लेना होगा।

भारत क्या है ?

भूगोल के विद्यार्थी के लिए भारत उत्तर में हिमालय तथा दक्षिण में महासागर से सीमित एक भूमिखंड मात्र हो, पर भारत इतना ही नहीं है। स्वामी विवेकानन्द ने भारत की संस्कृति तथा इतिहास का गहरा अध्ययन किया था तथा दीर्घ तीन वर्षों तक बंगाल से गुजरात तक तथा कश्मीर से कन्याकुमारी तक सारे भारत का भ्रमण कर भारत की तत्कालीन स्थिति का प्रत्यक्ष दर्शन किया था। जब वे कन्याकुमारी के उस शिला खंड पर जिस पर अब विवेकानन्द शिला-स्मारक निर्मित है, बैठ कर भारत के गौरवशाली अतीत, वर्तमान अधःपतन तथा उज्ज्वल भविष्य के चिन्तन में निमग्न हुए थे, तब वे, अपने ही शब्दों में, "Condensed India",—धनीभूत भारत हो गये थे। अतः भूगोलवेत्ताओं, इतिहासकारों, अथवा समाजशास्त्रियों की राष्ट्र सम्बन्धी सीमित एवं आंशिक धारणाओं की अपेक्षा राष्ट्रगतप्राण, देशभक्त-सन्त स्वामी विवेकानन्द की भारत की परिभाषा अधिक व्यापक एवं पूर्ण है तथा उसे ही हम स्वीकार करेंगे।

स्वामी विवेकानन्द एक ब्रह्मज्ञ ऋषि थे जो कीट से ब्रह्मा पर्यन्त सर्वत्र ब्रह्म-चैतन्य का दर्शन करते थे। उनकी दृष्टि में भारत एक प्राणवन्त, जीवन्त देवता था, जिसे वे 'भारतमाता' 'आराध्या देवी' 'विशालकाय दैत्य', (Laviathan) आदि नामों से अभिहित करते

थे। भौगोलिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय सीमाओं से आवद्ध यह भूमिखंड, इसके पर्वत, नदी, तालाब, वन, मैदान तथा रेगिस्तान इसके स्थूल शरीर का निर्माण करते हैं। भारत में रहने वाले करोड़ों नर-नारी इस विशाल देवी के जीवकोष (cells) हैं तथा इन लोगों के व्यष्टि मन की समष्टि इस देवी का मन है। धर्म इसका प्राण है। भारत में हो रही धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक गतिविधियाँ इस प्राण के पाँच विभाग, पंच-प्राण हैं। यह है, स्वामीजी की भारत की परिभाषा या धारणा।

नवजागरण का अर्थ :

किसी राष्ट्र, जाति अथवा समाज के नवजागरण से सामान्यतः सामाजिक गतिविधियों की तीव्रता, नवीन साहित्य का सृजन, राजनैतिक जाग्रति अथवा सैनिक अथवा असैनिक क्रान्ति आदि ही समझा जाता है। यह सत्य है कि भारतीय इतिहास में इस प्रकार की कोई विशिष्ट तथा राष्ट्रव्यापी घटना कभी नहीं घटी, जिस प्रकार की उथल पुथल युरोपीय देशों के इतिहास में पायी जाती है। सैंकड़ों वर्षों तक भारत विदेशी आक्रमणकारियों का गुलाम रहा तथा नवजागरण की अपेक्षा उसकी अवनति ही घटती रही। लेकिन एक दूसरे प्रकार का नवजागरण प्रत्येक युग में भारत में होता रहा है, जिसने भारत के प्राण को सदा जाग्रत रखा है। २५०० वर्ष पूर्व बुद्ध व तीर्थंकर महावीर ने एक प्रवल आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात्र किया था जिसने एक हजार वर्षों से अधिक काल तक भारत को प्रभावित किया था, तथा प्रेम, अहिंसा और दया के महान आदर्शों के आधार पर एक नये समाज की रचना की थी। मध्ययुग में शंकराचार्य ने हिन्दूधर्म का पुनर्गठन किया था। मुगलकालीन भारत में चैतन्य, कबीर, तुलसी, मीराबाई, दादू आदि सन्तों ने धर्म को जीवित रखा था। यही नहीं, राजनैतिक संघर्षों के पीछे भी धार्मिक प्रेरणा पायी जाती थी। इस सन्दर्भ में शिवाजी के गुरु समर्थ रामदास तथा गुरु गोविन्द सिंह के दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। इस प्रकार भारत के इतिहास में कोई भी काल ऐसा नहीं रहा है जब धार्मिक नवजागरण किसी न किसी रूप में न हुआ हो। तात्पर्य यह है कि भारत का प्राण धर्म है तथा भारत के सन्दर्भ में धार्मिक नवजागरण ही वास्तविक नवजागरण है। इस सत्य को हृदयंगम करने पर भारत के आधुनिक नवजागरण में श्रीरामकृष्ण का अवदान आसानी से समझा जा सकता है।

श्रीरामकृष्ण का अवदान :

श्रीरामकृष्ण ने भारत का आध्यात्मिक नवजागरण पांच प्रकार से किया था।

(१) श्रीरामकृष्ण के आविर्भाव के समय धर्म को ही भारत की सामाजिक कुरीतियों तथा राजनैतिक दासता का कारण समझा जाता था। एक ओर थे कट्टरपंथी धार्मिक जो कुछ क्रिया अनुष्ठानों, लोकाचार तथा देशाचार को ही धर्म समझकर उन्हीं को पकड़े रहना चाहते थे। दूसरी ओर आधुनिक शिक्षा सम्पन्न, विदेशी सभ्यता के रंग में रंगे समाज सुधारक थे, जो धर्म को पूरी तरह नष्ट कर देना चाहते थे। ऐसी स्थिति में श्रीरामकृष्ण ने जो पहला कार्य किया वह था धर्म का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित करना तथा अपने जीवन द्वारा उसकी सत्यता प्रमाणित करना। 'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'न धनेन न प्रजया त्यागेनैकेनमृतत्वमानशुः' इत्यादि वेदोक्त सत्यों को श्रीरामकृष्ण ने अपने जीवन में अत्यद्भुत साधना तथा त्याग द्वारा सत्य सिद्ध किया था।

(२) श्रीरामकृष्ण की जीवनगाथा से परिचित पाठक जानते हैं कि उन्होंने हिन्दू-धर्म की विभिन्न शाखाओं--तंत्र, वैष्णव, वेदान्त आदि सभी में प्रचलित साधनाओं का अनुष्ठान किया था। वे जब जिस साधना में प्रवृत होते ईश्वरीय विधान से उस संप्रदाय विशेष के साधक दक्षिणेश्वर आ पहुँचते। जब वे सभी साधनाओं में सिद्धिलाभ कर आचार्य पद पर आरूढ़ हो चुके तब भी उनके पास सैंकड़ों निष्ठावान साधकों का आगमन

हुआ था और उन्होंने उन सभी को अपने आदर्श जीवन के दृष्टान्त तथा उपयुक्त मार्ग-दर्शन द्वारा साधन पथ पर अग्रसर किया था। भारत में विद्यमान सभी धर्म-सम्प्रदायों में नयी चेतना का संचार करना, भारतीय आध्यात्मिक नवजागरण के लिए किया गया श्रीरामकृष्ण का दूसरा कार्य था।

(३) आचार्य पद पर आरूढ़ होने के बाद श्रीरामकृष्ण ने वैद्यनाथ, काशी, वृन्दावन आदि भारत के प्रमुख तीर्थों का भ्रमण किया था। शास्त्रों के अनुसार सिद्ध-महापुरुषों के लिये तीर्थ-भ्रमण अनिवार्य नहीं है; फिर भी ये महापुरुष जगत-कल्याण की भावना से प्रेरित हो, तीर्थों के माहात्म्य की वृद्धि तथा उनके आध्यात्मिक प्रभुत्व को बढ़ाने के लिये तीर्थ-भ्रमण करते हैं। नारद-भक्ति-सूत्र के अनुसार वे तीर्थों को तीर्थीकृत कर देते हैं। "तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि।" तीर्थों में नवीन प्राण-संचार करना श्रीरामकृष्ण का तीसरा कार्य था।

(४) अपने उदार आध्यात्मिक भाव को जगत्-कल्याण के लिये प्रसारित करने के उद्देश्य से अन्तरंग संन्यासी शिष्यों के एक संघ की स्थापना करना श्रीराम-कृष्ण का चौथा कार्य था। रामकृष्ण संघ के वास्तविक संस्थापक तो श्रीरामकृष्ण ही हैं, भले ही स्वामी विवेकानन्द ने उसे संवैधानिक रूप प्रदान किया हो।

(५) जो पांचवां और सबसे महत्वपूर्ण कार्य श्रीरामकृष्ण ने किया, वह था आधुनिक भावापन्न, संशयवादी, अज्ञेयवादी वैज्ञानिक, चेतनायुक्त किन्तु विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न युवक नरेन्द्रनाथ को अपने सन्देश-वाहक स्वामी विवेकानन्द में रूपान्तरित करना। ध्यान-सिद्ध योगी स्वामी विवेकानन्द स्वभावतः समाधि में निमग्न रहना चाहते थे। एक बार जब उन्होंने श्रीरामकृष्ण से शुकदेव की तरह निरंतर समाधि में मग्न रहने की अपनी इच्छा व्यक्त की तब श्रीरामकृष्ण ने उनकी भर्त्सना करते हुए कहा : "छिः, यह तेरी कैसी हीन बुद्धि है। इससे भी ऊपर एक अवस्था है। मैं तो चाहता हूँ कि तू एक विशाल वट वृक्ष की तरह हो जिसकी छाया में असंख्य नरनारी आश्रय प्राप्त करें।" श्रीरामकृष्ण ने स्वामीजी को अपनी स्वाभाविक ध्यान प्रवणता त्याग कर, "शिव ज्ञान से जीव सेवा" के लिए प्रेरित किया।

श्रीरामकृष्ण एवं स्वामी विवेकानन्द :

अपनी भौतिक लीला के संवरण के कुछ दिन पूर्व एक दिन श्रीरामकृष्ण ने स्वामीजी को अपने सामने बैठने का आदेश दिया और वे समाधिस्थ हो गये। स्वामी जी ने अनुभव किया कि एक शक्ति उनमें प्रवेश कर रही है। कुछ देर बाद प्रकृतिस्थ होने पर श्रीरामकृष्ण ने उनसे कहा कि आज अपना सबकुछ तुझे देकर मैं फकीर हो गया हूँ। जो शक्ति उस समय तक श्रीरामकृष्ण रूपी देह के माध्यम से कार्यरत थी उसी ने तबसे स्वामीजी को आश्रय किया था। इसीलिये रामकृष्ण संघ की परम्परा में श्रीरामकृष्ण तथा स्वामी विवेकानन्द को भिन्न व्यक्तित्व होते हुए भी अभेद माना जाता है। स्वामीजी श्रीरामकृष्ण रूपी वेद के भाष्य स्वरूप हैं तथा एक प्रचलित मान्यता यह है कि स्वामी विवेकानन्द की जीवनी तथा उपदेशों का अध्ययन किये बिना श्रीरामकृष्ण को ठीक-ठीक समझना असंभव है। एक कवि के अनुसार यदि गुरु श्रीरामकृष्ण सुगन्ध हों तो शिष्य विवेकानन्द वह वायु हैं जो सुगन्ध को दिग-दिगन्त में फैलाती है। श्रीरामकृष्ण एक तुरही या बिगुल सदृश हैं जिसके उच्च-स्वर-वादक हैं स्वामीजी और यदि श्रीरामकृष्ण को सूर्य माना जाये तो स्वामीजी उस दर्पण के समान हैं जो उसे प्रतिबिम्बित करता है।

सुगन्धः श्रीगुरुर्भवान्वायुः खलु
स तूर्यं त्वं च भो महोच्चैर्घोषकः।
गुरु सूर्यस्तु हे किलादर्शो भवान········ ॥

स्वयं स्वामी विवेकानन्द का कथन है, "यदि मैंने जीवन भर में एक भी सत्य वाक्य कहा है तो वह उन्हीं का, केवल उन्हीं (श्रीरामकृष्ण) का है, पर यदि मैंने ऐसे वाक्य कहे हैं जो असत्य, भ्रमपूर्ण अथवा मानव-जाति के हितकारी न हों तो वे सब मेरे ही वाक्य हैं और मैं ही उनके लिये पूरा उत्तरदायी हूँ।"

एक सिक्के के दो पहलू :

कभी-कभी श्रीरामकृष्ण व स्वामी विवेकानन्द को एक सिक्के के दो पहलुओं के रूप में देखा जाता है और यह तुलना सबसे उपयुक्त और तथ्यपूर्ण है। सिक्के के दो पहलू एक दूसरे से भिन्न दिखाई देते हैं। एक ओर राष्ट्र का मुखचित्र तथा नाम रहता है, और दूसरी ओर अन्य कोई चित्र तथा सिक्के का मूल्य अंकित रहता है। लेकिन धातु एक ही होती है। यही बात श्रीरामकृष्ण एवं स्वामीजी में पायी जाती है।

श्रीरामकृष्ण एक निरक्षर ब्राह्मण थे जो अपनी किंचित् तोतली ग्रामीण बंगाली भाषा में वार्तालाप किया करते थे। इसके विपरीत स्वामीजी आधुनिक शिक्षा सम्पन्न बहुमुखी प्रतिभावाले नगर-निवासी तरुण युवक थे। उनकी तर्कशक्ति, व वाक्पटुता प्रखर थी तथा उन्होंने न्याय, दर्शन, इतिहास, साहित्य आदि अनेक शास्त्रों का अध्ययन किया था। दोनों के शारीरिक गठन का अन्तर तो चित्रों से ही दिखाई दे जाता है। श्रीरामकृष्ण का अधिकांश जीवन कलकत्ता नगर में ही बीता, जबकि स्वामीजी का जीवन देश-विदेश में भ्रमण तथा प्रचार कार्य में अतिवाहित हुआ।

इन दोनों के सन्देश का मूल केन्द्र भी भिन्न प्रतीत होता है। श्रीरामकृष्ण के जीवन तथा सन्देश का मूल केन्द्र था ईश्वर। ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं, क्या उसका दर्शन संभव है? भगवद्दर्शन के कितने पथ हैं? ईश्वर का स्वरूप क्या है?—अपना समग्र जीवन उन्होंने इन्हीं प्रश्नों के उत्तर पाने तथा व्याख्या करने में व्यतीत किया। इससे भिन्न स्वामीजी के चिन्तन का विषय था 'मानव'। मानव जाति को उसके देवत्व की शिक्षा देना तथा यह बताना कि जीवन के प्रत्येक स्तर पर उसे कैसे अभिव्यक्त किया जा सकता है। यही स्वामीजी का सन्देश था। मानव का स्वरूप, उसकी अवनति के कारण, उसकी आशा एवं आकांक्षाएँ, उसकी उन्नति के उपाय, स्वामीजी की गवेषण के विषय थे। वे कहते भी थे कि जैसे-जैसे मैं बड़ा होता हूँ, मुझे सबकुछ मनुष्यत्व में निहित दिखाई देता है। यही मेरा नवीन सन्देश है।

स्वामीजी तथा श्रीरामकृष्ण के उपदेशों में सेवा कार्यों के विषय में एक महत्वपूर्ण अन्तर परिलक्षित होता है। "श्रीरामकृष्ण वचनामृत" में श्रीरामकृष्ण सेवा कार्यों को कहीं भी प्रोत्साहित करते पाये नहीं जाते। यदि कोई भक्त धन का सदुपयोग अस्पताल, डिस्पेन्सरी, स्कूल आदि बनाकर करने की इच्छा व्यक्त करता तो श्रीरामकृष्ण उसे निरुत्साहित करते हुए कहते- "यदि तुम्हारे सामने भगवान आ जायें तो क्या उनसे स्कूल, अस्पताल आदि माँगोगे?" इसके विपरीत स्वामी जी अपने अनुयायियों को गाँव-गाँव में स्कूल, सदाव्रतादि खोलने का आह्वान करते तथा प्लेग, अकाल-पीड़ितों के लिए राहत-कार्यों का सूत्रपात करते दिखाई देते हैं। श्रीरामकृष्ण व स्वामीजी के उपदेशों तथा कार्यप्रणाली का आपाततः प्रतीत होने वाला यह अन्तर इतना स्पष्ट एवं चौंकाने वाला है कि यह भ्रम हो जाता है कि स्वामीजी ने श्रीरामकृष्ण की वाणी के बदले स्वयं के विचारों का प्रचार तो नहीं किया? अन्य लोगों की तो बात ही क्या, स्वामीजी के गुरुभाई भी उन्हें समझने में भूल कर बैठते थे। एक बार उनके गुरुभाई स्वामी योगानन्दजी उनसे स्पष्ट पूछ ही बैठे, "यह जो संघ बना कर सेवादि कार्य प्रारम्भ कर रहे हो, क्या श्रीरामकृष्ण ने कभी इनका उपदेश दिया था या तुम अपने विचारों के अनुसार यह कर रहे हो?"

इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि "शिवज्ञान से जीव सेवा" का महामंत्र तो श्रीरामकृष्ण का ही दिया हुआ है। लेकिन स्वामी जी के उपदेशों का भारत तथा राष्ट्रोत्थान से सम्बन्धित पक्ष ऐसा है, जिसका उल्लेख तक श्रीरामकृष्ण के उपदेशों में कहीं भी पाया नहीं जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिक्के के दो पहलुओं के समान श्रीरामकृष्ण व स्वामी विवेकानन्द का जीवन, व्यक्तित्व तथा उपदेश पृथक दिखाई देते हैं। आइये, इस राष्ट्रनिर्माण विषयक विरोधाभासी पक्ष से आरंभ कर सिक्के की उस सामान्य धातु तक पहुँचने का प्रयत्न करें जो श्रीरामकृष्ण का सन्देश तथा स्वामीजी के उपदेशों का प्राण है।

स्वामी विवेकानन्द का अवदान :

(१) राष्ट्रनिर्माण का लक्ष्य—किसी भी महान कार्य के लिए लक्ष्य तथा कार्यप्रणाली की स्पष्ट धारणा आवश्यक है। यह बात राष्ट्र-निर्माण के सम्बन्ध में भी लागू होती है। भारत के वर्त्तमान नेताओं को लक्ष्य की स्पष्ट धारणा न होने के कारण योजनाओं और प्रगति के प्रयासों के बावजूद भारत में नैतिक समस्याएँ तथा मानवीय मूल्यों का ह्रास दिखाई देता है। इससे भिन्न स्वामीजी के मन में भारत के विकास का लक्ष्य तथा भावी भरत का चित्र स्पष्ट था। वे भारत में एक ऐसे समाज का निर्माण करना चाहते थे जहाँ त्याग, सत्य, अहिंसा आदि उच्चतम नैतिक आदर्श क्रियान्वित किये जा सकें तथा जिसमें सभी को अपने अन्तर्निहित देवत्व की अभिव्यक्ति का समुचित अवसर प्राप्त हो। मौलिक समृद्धि तथा सुरक्षा के लिए सैन्य-बल आवश्यक हैं, किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि राष्ट्र का नैतिक पतन हो। अथवा वह एक सैनिक राष्ट्र में परिणत हो जाये। धर्म को तिलांजलि देने पर भारत ही न रहेगा। वह एक प्राणहीन भूमिखण्ड मात्र रह जायेगा जिसके उत्थान में स्वामीजी की कोई रुचि नहीं होती।

(२) राष्ट्रीय आदर्श—स्वामीजी के अनुसार त्याग और सेवा भारत के राष्ट्रीय आदर्श हैं तथा इनके घनीभूत विग्रह श्रीरामकृष्ण हैं भारत के राष्ट्रीय देवता। "अगर भारत उठना चाहता है," स्वामीजी कहते हैं, "तो इस नाम के चारो ओर उत्साहपूर्वक एकत्र हो जाना चाहिये।" लेकिन श्रीरामकृष्ण को समझने तथा आदर्श के रूप में स्वीकार करने के लिये भौतिक समृद्धि आवश्यक है। भूखे पेट धर्म नहीं होता। जिसके पास कुछ हैही नहीं, वह त्याग किसका करेगा और त्याग के बिना त्याग के मूल विग्रह श्रीरामकृष्ण को कैसे समझा जा सकता है? घोर तमसाच्छन्न देश के लिए श्रीरामकृष्ण के विरुद्ध, सत्वगुणी भाव को हृदयंगम करना कैसे संभव है? दुर्वल तेजहीन भारतवासियों के लिए तो गीता की अपेक्षा फुटवाल अधिक लाभकर होगा। मांसपेशियों कें अधिक मजबूत होने पर वे श्रीकृष्ण की महान प्रतिभा एवं प्रचंड शक्ति को समझ सकेंगे तथा श्रीरामकृष्ण के आदर्श को ग्रहण करने में समर्थ होंगे। इसलिए स्वामीजी भारत की मौलिक उन्नति चाहते थे।

(३) आध्यात्मिक विचारों से देश का प्लावन—स्वामीजी ने भारत-निर्माण के अनेक उपाय सुझाये हैं, जिनमें से केवल कुछ ही का यहाँ उल्लेख किया जा सकता है। उनका कथन था, "भारत को समाजवादी विषयक अथवा राजनैतिक विचारों से प्लावित करने कें पहले यह आवश्यक है कि उसमें आध्यात्मिक विचारों की बाढ़ ला दी जाय।" इस निर्देश की उपेक्षा कर केवल सामाजिक एवं राजनैतक विचारों के आप्लावन के दुष्परिणाम आज हमारे सामने हैं।

(४) मानव-निर्माण की योजना—स्वामी विवेकानन्द ने अपने परिव्राजक जीवन के अन्तिम चरण में कन्या कुमारी के शिलाखंड पर बैठकर भारत की उन्नति की एक योजना वनायी थी। वह थी सर्व त्यागी संन्यासियों के एक संघ के निर्माण की योजना, जो गाँव-गाँव में जाकर धर्म के साथ-साथ कृषि, इतिहास, भूगोल, भौतिक विज्ञान की भी शिक्षा दें जिससे भारत के जनसाधारण की भौतिक उन्नति भी हो सके। इसके साथ ही साथ रामकृष्ण संघ का उन्होंने एक और महत्त्वपूर्ण उद्देश्य निर्धारित किया था;—वह था 'मानव' निर्माण करना, क्योंकि भारत की उन्नति तेजस्वी, निष्ठावान, सच्चे 'मानवों' के द्वारा ही संभव है। इस संदर्भ में स्वामीजी का राष्ट्र को दिया गया नारा स्मरणीय है—"ऐ वीर! साहस का अवलम्बन करो। गर्व से कहो कि मैं भारतवासी हूँ और प्रत्येक भारतवासी मेरा भाई है। तुम चिल्लाकर कहो, अज्ञानी भारतवासी, दरिद्र भारतवासी, चाण्डाल भारतवासी सब मेरे भाई हैं। भारत के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं। भारत का समाज मेरे बचपन का झूला, जवानी की फुलवारी तथा बुढ़ापे की काशी है। भारत की मिट्टी मेरा सर्वोच्च स्वर्ग है, भारत के कल्याण में मेरा कल्याण है।" इस राष्ट्रीय नारे के साथ स्वामी जी एक तथ्यपूर्ण प्रार्थना सिखाना नहीं भूलते, "रातदिन कहते रहो, 'हे गौरीनाथ! हे जगदम्बे। मुझे मनुष्यत्व

दो। माँ! मेरी कापुरुषता और दुर्बलता दूर कर दो—माँ मुझे मनुष्य बना दो।" और कौन है सच्चा मानव? च्चा मानव वह है जो स्वयं शक्ति के समान शक्तिशाली हो तथापि जिसका हृदय नारी के समान कोमल हो। जिसके हृदय में अपने आसपास के लाखों लोगों के लिए करुणा हो पर साथ ही जो कठोर व अडिग भी हो। जिसमें विरोधी प्रतीत होनेवाले गुण एक साथ विकसित एवं विद्यमान हों, वह स्वामीजी के अनुसार श्रेष्ठ मानव है। और श्रीरामकृष्ण के जीवन में इसका अद्भुत उदाहरण हमें प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह कि स्वामीजी की दृष्टि में भारत एक जीवन्त इकाई है, धर्म जिसका प्राण है, त्याग और सेवा जिसके राष्ट्रीय आदर्श, तथा श्रीरामकृष्ण जिसके राष्ट्रीय देवता हैं। भारत को धार्मिक विचारों द्वारा प्लावित करना तथा शिक्षा द्वारा श्रीरामकृष्ण के आदर्शानुसार मनुष्य निर्माण करना भारत के पुनरुत्थान के उपाय हैं। अतः श्रीरामकृष्ण व स्वामी विवेकानन्द में अन्तर प्रतीयमान होने पर भी उनके आदर्श, कार्यप्रणाली तथा लक्ष्य में पार्थक्य नहीं है।

श्रीरामकृष्ण का आगमन विश्व-कल्याण के लिए :

स्वामीजी के अनुसार श्रीरामकृष्ण ने अपनी साधना द्वारा विश्व-कुण्डलिनी को जाग्रत कर दिया है। उनका आविर्भाव इने-गिने कुछ अन्तरंग शिष्यों के उद्धार के लिए ही नहीं, बल्कि समग्र जगत के कल्याण तथा सारे संसार में आध्यात्मिकता का संचार करने के लिए हुआ था। लेकिन समग्र विश्व में धर्म एवं शान्ति की स्थापना के लिए भारत में धर्म का दृढ़-प्रतिष्ठ होना आवश्यक है क्योंकि "भूतकाल में विश्व आध्यात्मिक भावों के लिए भारत का ऋणी रहा है और भविष्य में भी भारत से ही विश्व को शान्ति, प्रेम और सहिष्णुता का सबक सीखना होगा।" स्वामीजी कहते हैं, "क्या भारत मर जायेगा तब तो संसार से सारी आध्यात्मिकता का समूल लोप हो जायेगा, सारे सदाचार पूर्ण आदर्श जीवन का नाश हो जायेगा, धर्मों के प्रति सारी मधुर सहानुभूति नष्ट हो जायेगी……और उसके स्थान पर कामरूपी देव व विलासिता रूपी देवी राज्य करेंगी; धन पुरोहित होगा, प्रतारणा, पाशविक बल और प्रतिद्वन्द्विता ये ही पूजा पद्धति होंगी और मानवात्मा बलि-सामग्री होगी।"

भारत में आध्यात्मिक नवजागरण के लिए ऐसा एक संघ आवश्यक है जहाँ श्रीरामकृष्ण के आदर्शों को कार्यरूप देने का प्रयत्न हो, जहाँ श्रीरामकृष्ण रूपी साँचे में कुछ सहसी युवक-युवतियाँ अपने जीवन को ढालने की साधना करें—जहाँ सच्चे मानवों का निर्माण हो।

बढ़े चलो—

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द द्वय के रूप में जगत् में जो ईश्वरीय शक्ति अवतरित हुई थी, उसका प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में भारतीय नव जागरण में महान अवदान है। जागरण ही नहीं, भारत के पुनर्गठन तथा गौरव के चरम शिखर तक आरोहण में भी श्रीरामकृष्ण की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। स्वामी जी का आह्वान है, "उत्तिष्ठत, जाग्रत, प्राप्यवरान्निबोधत,, "उठो, जागो और तब तक रुको नहीं जबतक लक्ष्य प्राप्त न हो जाये" भारत जाग चुका है। अब जागरण की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़ने के लिये सर्व धर्म समन्वयाचार्य, चाण्डाल को भी गले लगाने वाले, नारी को माता तथा देवी का सर्वोच्च आसन प्रदान करने वाले, त्याग और सेवा के मूर्त विग्रह श्रीरामकृष्ण रूपी ज्योति-स्तम्भ की आवश्यकता है। आइये, इस महान उदारतम आदर्श के अनुसार जीवन गठन कर स्वयं तथा राष्ट्र को धन्य बनायें।

□

परमहंस श्री रामकृष्णदेव एवं मायावाद

—श्री उमेशचन्द्र
बरयातु, राँची ।

भारतीय दर्शन में ईश्वर और माया इन दोनों सत्यों की पूर्ण विवेचना की गयी है । "माया शब्द मा धातु से बना है, जिसका अर्थ है बनाना, रचना करना और मूलतः इस शब्द का अर्थ था--रूप उत्पन्न करने की क्षमता । वह सृजनात्मक शक्ति, जिसके द्वारा परमात्मा विश्व को गढ़ता है योगमाया कहलाती है ।"१ ईश्वर ही माया का स्रष्टा है । जीव और जगत के सम्पूर्ण कार्य माया से ही संचालित होते हैं । ईश्वर ने ही माया के इस मुग्धकारी वितान की रचना की है, जिसकी पुष्टि श्रीमद्-भगवद्गीता करती है :—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतनामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामिधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।।२४।६

"यद्यपि मैं अजन्मा हूँ और मेरी आत्मा अनश्वर है, यद्यपि मैं सब प्राणियों का स्वामी हूँ, फिर भी मैं अपनी प्रकृति में स्थिर होकर अपनी माया द्वारा अस्तित्व ग्रहण करता हूँ ।"२

ईश्वर प्रकृति का नियंत्रण करता है । सामान्य प्राणियों के जीवन के सभी कार्य प्रकृति द्वारा नियंत्रित होते हैं । प्रकृति ही जीवों के जन्म एवं मृत्यु की विधा निर्धारित करती है । किन्तु परमात्मा स्वयं अपनी शक्ति द्वारा जन्म लेता है । आतममाया से प्रसूत परमात्मा को इसी कारण आतममायया की संज्ञा से अभिहित किया गया है ।

आचार्य शंकर ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक "विवेक चूड़ामणि "में माया का निरूपण किया है । आचार्य शंकर के ही शब्दों में :—

"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति—
रनाद्य विद्य त्रिगुणात्मिका परा ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया
यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।।११०.।।
सन्नाप्यन्नाप्युम्यात्मिका नो
भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो ।
साङ्गाप्यनङ्गा प्युभयात्मिका नो
महाद्भुतानिर्वचनीयरूपा ।। १११ ।।
शुद्धद्वयब्रह्मविबोधनाश्या
सर्पभ्रमो रज्जुविवेकतो यथा ।
रजस्तमः सत्तवमितिप्रसिद्धा
गुणास्तदीयाः प्रथितैः स्वकार्यैः ।।११२ ।। ३

जो अव्यक्त नामवाली त्रिगुणात्मिका अनादि अविद्या परमेश्वर की पराशक्ति है, वही माया है । जिससे यह सारा जगत उत्पन्न हुआ है । बुद्धिमान व्यक्ति इसके कार्य-कलाप से ही इसका अनुमान करते हैं ।

वह न सत् है, न असत् है और न उभयरूप है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न उभयरूप है, न अंगसहित है, न अंगरहित है और न उभयात्किका ही है । यह माया अत्यंत अद्भुत एवं अनिर्वचनीय प्रख्यात है ।

यह परा शक्ति सत्व, रज एवं तमो गुण से युक्त है । जिस प्रकार रस्सी में सर्प-भ्रम की आशंका निहित रहती है, उसी प्रकार माया से युक्त यह जगत और जीव अपने निजस्वरूप का दर्शन नहीं कर पाता । ईश्वर की प्राप्ति के उपरांत ही भ्रमात्मक ज्ञान पूर्णतया नष्ट हो पाता है ।

आचार्य शंकर का मायावाद जगत के मिथ्यास्वरूप को उजागर करता है । परमात्मा की सत्ता के अतिरिक्त जीव और जगत सभी नश्वर हैं, संसार स्वप्न की तरह मिथ्या है । परमात्मा ही एकमेव सत्य है और आत्मज्ञान ही जीवन का लक्ष्य अभिहित है ।

माया के मनोमुग्धकारी वितान की एक पौराणिक कथा है जिससे हम माया के ,लुभावने रूप की छटा का

---

१. भगवदगीता -राधाकृष्णन्-पृष्ठ ४२
२. भगवद्गीता-राधाकृष्णन्-पृष्ठ १४३
३. विवेक-चूड़ामणि-अनुवादक मुनिलाल-पृष्ठ ३७-३८ ।

दिग्दर्शन करने में सक्षम हो पायेंगे। यह कथा स्वामी विवेकानन्द ने अपनी विश्वविख्यात पुस्तक "ज्ञानयोग" में संकलित की है। उन्हीं के शब्दों में :—

"नारद ने एक दिन श्रीकृष्ण से पूछा, "प्रभो, आपकी माया कैसी हैं; मैं देखना चाहता हूँ।" एक दिन श्रीकृष्ण नारद को लेकर एक मरुस्थल की ओर चले। बहुत दूर जाने के बाद श्रीकृष्ण नारद से बोले, "नारद, मुझे बड़ी प्यास लगी है। क्या कहीं थोड़ा सा जल ला सकते हो!" नारद बोले, 'प्रभो, ठहरिये; मैं अभी जल ले आया।' यह कहकर नारद चले गये। कुछ दूर पर एक गाँव था, नारद वहीं जल की खोज में गये। एक मकान में जाकर उन्होंने दरवाजा खटखटाया। द्वार खुला और एक परम सुन्दरी कन्या उनके सम्मुख आकर खड़ी हुई। उसे देखते ही नारद सब कुछ भूल गये। भगवान मेरी प्रतीक्षा कर रहे होंगे, वे प्यासे होंगे, हो सकता है प्यास से उनके प्राण भी निकल जायँ---ये सारी बातें नारद भूल गये। सब कुछ भूलकर वे उस कन्या के साथ बातचीत करने लगे। उस दिन वे अपने प्रभु के पास लौटे ही नहीं। दूसरे दिन वे फिर से उस लड़की के घर आ उपस्थित हुए और उससे बातचीत करने लगे। धीरे-धीरे बातचीत ने प्रणय का रूप धारण कर लिया। तब नारद उस कन्या के पिता के पास जाकर उस कन्या के साथ विवाह की अनुमति माँगने लगे। विवाह हो गया। नव दम्पति उसी गाँव में रहने लगे। धीरे-धीरे उनके सन्तानें भी हुईं। इस प्रकार बारह वर्ष बीत गये। इस बीच नारद के ससुर मर गये और वे उनकी सम्पत्ति के उत्तराधिकारी हो गये। पुत्र-कलत्र, भूमि, पशु, सम्पति, गृह आदि को लेकर नारद बड़े सुख-चैन से दिन बिताने लगे। कम-से-कम उन्हें तो यही लगने लगा कि वे बड़े सुखी हैं। इतने में उस देश में बाढ़ आयी। रात के समय नदी दोनों कगारों को तोड़कर बहने लगी और सारा गाँव डूब गया। मकान गिरने लगे, मनुष्य पशु बह-बहकर डूबने लगे, नदी की धार में सबकुछ बहने लगा। नारद को भी भागना पड़ा। एक हाथ से उन्होंने स्त्री को पकड़ा, दूसरे हाथ से दो बच्चों को, और एक बालक को कन्धे पर बिठाकर वे उस भयंकर बाढ़ में बचने का प्रयत्न करने लगे।

कुछ ही दूर जाने के वाद उन्हें लहरों का वेग अत्यंत तीव्र प्रतीत होने लगा। कन्धे पर बैठे हुए शिशु की नारद किसी प्रकार रक्षा न कर सके, वह तरंगों में बह गया। उसकी रक्षा करने में एक और बालक, जिसका हाथ वे पकड़े हुये थे, छूटकर डूब गया। निराशा और दुःख से नारद अतिनाद करने लगे। अपनी पत्नी को वे अपने शरीर की सारी शक्ति लगाकर पकड़े हुए थे, अन्त में तरंगों के वेग से पत्नी भी उनके हाथ से छूट गयी और वे तट पर जा गिरे एवं मिट्टी में लोट-पोट हो बड़े कातर स्वर से विलाप करने लगे। इसी समय मानो किसी ने उनकी पीठ पर कोमल हाथ रखा और कहा। "वत्स, जल कहाँ है? तुम जल लेने गये थे न, मैं तुम्हारी प्रतीक्षा में खड़ा हूँ। तुम्हें गये आधा घण्टा बीत चुका।" आधा घण्टा! नारद के लिए तो बारह वर्ष बीत चुके थे। और आधे घण्टे के भीतर ही ये सब दृश्य उनके मन में से होकर निकल गये।यही माया है! किसी न किसी रूप में हम सभी इस माया के भीतर हैं।"

माया बड़ी व्यापक है। इसका न ओर है और न छोर। जीव-जगत के सभी प्राणी जाने-

४. ज्ञानयोग-स्वामी विवेकानन्द-पृष्ठ-१२५-१२६।

अनजाने माया के वशीभूत हो नाना प्रकार के कर्मों में लिप्त हैं। प्रथम स्वास से अन्तिम स्वास तक विविधि रंगों से युक्त माया की यह फुलवारी हमें निष्णात कर जीवन के अन्तिम सत्य से वंचित रखना चाहती है। प्रकृति का यह कैसा विधान है! मुक्त होते हुए भी माया के वशीभूत जीव कितना निरीह है, कितना पराधीन है! जीव की विवशता और मायावी जगत के बीच भी आज भगवान कृष्ण की वाणी जीवन्त है।

"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥"५

मेरी इस गुणमयी दैवी माया को जीत पाना बहुत कठिन है। परन्तु जो लोग मेरी ही शरण में आते हैं, वे इनको पार कर जाते हैं।

आचार्य शंकर का अद्वैतवाद एवं रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद में एक अन्त हीन विवाद रहा है। शंकराचार्य का अद्वैतवाद माया की निरपेक्ष सत्ता पर आधारित है। दूसरी तरफ रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैतवाद माया की सापेक्षता व्यक्त करता है। परमहंस श्री रामकृष्णदेव की स्थिति इन दोनों सम्प्रदायों के बीच कैसी थी इसकी एक झलक रोम्यारोलाँ की पुस्तक 'रामकृष्ण' से मिलती है :—

"उनके स्वभाव की नमनीयता उनको रामानुज के समन्वयात्मक समाधान की ओर आकृष्ट करती थी, परन्तु दूसरी तरफ उनके विश्वास की तीव्रता उन्हें अद्वैतवाद के उग्रतम रूप को स्वीकार करने के लिये वाध्य करती थी। उन्होंने अपनी प्रतिभा द्वारा ऐसी सजीव अभिव्यक्तियों तथा अत्यंत विलक्षण रूपकों का आविष्कार किया।—शंकराचार्य ने कहा था कि "प्रकाशित होने वाले पदार्थों के अभाव में भी सूर्य चमकता रहता है।" परन्तु रामकृष्ण की शाब्दिक अभिव्यक्ति में अन्तर था। उनकी दृष्टि इतनी तीव्र थी कि वे प्रकाशित होने वाले पदार्थों की उस अवस्था में भी, जबकि वे उनके अस्तित्व से इनकार करते थे, बिना लक्ष्य किये न रह सकती थी। वे अपने सूर्य के बारे में कहा करते थे कि वह अच्छे व बुरे सबको एक सा प्रकाश देता है—वह एक ऐसा दीपक है, जिसके प्रकाश के द्वारा एक मनुष्य धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन कर सकता है, और दूसरा व्यक्ति जाली दस्तावेज बना सकता है। वह एक ऐसा चीनी का पर्वत है, जिससे चीनी के छोटे-छोटे कणों को लेकर जब चीटियाँ अघा जाती हैं तो वे समझती हैं कि उन्होंने पर्वत को ही समाप्त कर दिया है। परन्तु जबकि वास्तव में वे उसके कुछ कण ही ले सकी हैं—यह एक ऐसा समुद्र है कि जिसके तट पर एक नमक की पुतली गहराई नापने के लिये उतरती है, परन्तु जिस क्षण उसके पैर समुद्र के पानी को स्पर्श करते हैं उसी क्षण वह पिघल जाती है, विलीन हो जाती है और अदृश्य हो जाती है॥६

परमहंस श्री रामकृष्णदेव ने दोनों के सुमधुर सम्मिलन को ही वेदान्त का अन्तिम लक्ष्य माना है। दर्शन के दो विभिन्न स्तरों में स्पष्ट भेद करते हुए रामकृष्ण कहते हैं :—"एक माया के संकेत से आविष्ट है, जोकि पृथकीकृत विश्व की वास्तविकता की सृष्टि करता है। दूसरा परिपूर्ण ध्यान का दर्शन है, जिसमें अनन्त के साथ एक क्षण का मिलन भी हमारे अपने व दूसरों के भी पृथकीकृत अहं की भ्रान्ति को तत्काल विलुप्त कर देता है। परन्तु रामकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि जबतक हम संसार का अंश हैं, उससे अपने ऐक्य-बोध के लिए उसकी वास्तविकता का कभी न बुझनेवाला विश्वास कायम रखते हैं, तबतक यह दावा करना कि संसार मिथ्या है, सर्वथा बेहूदा है। वह ऋषि जो समाधि से साधारण जीवन में आता है उसे भी पुनः अपने पृथकीकृत

५. श्रीमद्भागवद्गीता-पृ० अध्याय ७/१४।
६. रामकृष्ण रोम्या रोला-पृ० ७८/८०।

अहम् के आवरण में चाहे वह कैसा ही सूक्ष्म व पवित्र क्यों न हो आने के लिये बाध्य होना पड़ता है। उसे आपेक्षिकता के संसार में धकेल दिया जाता है......उस समय माया असली रूपों में प्रकट होती है। यह एक ही समय में सत्य और मिथ्या, ज्ञान और अज्ञान, परमात्मा के तरफ ले जाने वाली प्रत्येक वस्तु और उससे दूर ले जाने वाली प्रत्येक वस्तु के रूप में प्रकट होती है। इसलिए इसका अस्तित्व है।"७

परमहंस श्री रामकृष्णदेव ने ईश्वर और उनकी माया दोनों की सत्यता स्वीकार की है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ ईश्वर के साक्षी स्वरूप हैं। स्वप्न जितना सत्य है जाग्रति भी उतनी ही सत्य है। इन भावों से अनुपूरित एक कहानी परमहंस श्रीरामकृष्णदेव ने अपने भक्तों को सुनायी थी जो उन्हीं के शब्दों में अनुस्यूत है।

> "किसी देश में एक किसान रहता था। वह बड़ा ज्ञानी था। किसानी करता था। स्त्री थी, एक लड़का बहुत दिनों के बाद हुआ था। नाम उसका हारू था। बच्चे पर माँ और बाप, दोनों का प्यार था, क्योंकि एकमात्र वही नीलमणि जैसा धन था। किसान धर्मात्मा था। गाँव के सब आदमी उसे चाहते थे। एक दिन वह मैदान में काम कर रहा था, किसी ने आकर खबर दी, हारू को हैजा हुआ। किसान ने घर जाकर उसकी बड़ी दवादारू की, परन्तु अन्त में लड़का गुजर गया। घर के सब लोगों को बड़ा शोक हुआ, परन्तु किसान को जैसे कुछ भी न हुआ हो। उल्टा वह सब को समझाता था कि शोक करने में कुछ नहीं है। फिर वह खेती करने चला गया। घर लौटकर उसने देखा, उसकी स्त्री रो रही है। उसने अपने पति से कहा, "तुम बड़े निष्ठुर हो, लड़का जाता रहा और तुम्हारी आँखों से आँसू तक न निकले!
>
> "तब उस किसान ने स्थिर होकर कहा, "मैं क्यों नहीं रोता, बतलाऊँ! कल मैंने एक बड़ा भारी स्वप्न देखा कि मैं राजा हुआ हूँ और मेरे आठ बच्चे हुए हैं—बड़े सुख से हूँ। फिर आँख खुल गयी। अब मुझे बड़ी चिन्ता है—अपने उन आठ लड़कों के लिए रोऊ या तुम्हारे इस एक लड़के हारू के लिए रोऊँ।"
>
> किसान ज्ञानी था, इसीलिए वह देख रहा था, स्वप्न की अवस्था जिस तरह मिथ्या थी, उसी तरह जाग्रति की अवस्था भी मिथ्या है, एक नित्य वस्तु केवल आत्मा है।"८

परमहंस श्री रामकृष्णदेव ने ब्रह्म, जीव और जगत तीनों की सत्ता को स्वीकार किया है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं को उन्होंने स्वीकार किया। ये तीनों अवस्थाएँ परमात्मा के साक्षी स्वरूप हैं, अतएव उनके मिथ्या होने का प्रश्न नहीं उठता। ब्रह्म की नित्यता और उसकी सहचरी लीला की स्वीकारोक्ति दी है। संसार को माया कह कर उन्होंने संसार के अस्तित्व का कभी भी लोप नहीं माना। परमहंस श्रीरामकृष्णदेव ने नित्य और लीला के इस सामंजस्य की बड़ी ही सुन्दर अभिव्यक्ति की है :—

> "लीला से नित्य में लीन होना, स्थूल, सूक्ष्म और कारण से महाकारण में लीन होना जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति से तुरीय में लीन होना। घण्टे का बजना मानो महा समुद्र में एक वजनदार चीज का गिरना है। फिर तरंगों का उठना शुरू होता है। नित्य से लीला का आरम्भ होता है, महाकारण से स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर का उद्भव होता है, तुरीय से जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये सब अवस्थाएँ आती हैं। फिर महासमुद्र की तरंग

७. रामकृष्ण रोम्या रोला-पृ० ७८/८०।

८. श्रीरामकृष्ण वचनामृत- अनु०पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला--द्वितीय भाग--पृ—५४६

महासमुद्र में ही लीन हो जाती हैं। नित्य से लीला है और लीला से नित्य।......मैंने यह सब यथार्थ रूप में देखा है। मुझे उसने दिखाया है, चित्त समुद्र है, उसका ओर-छोर नहीं है। उसी से ये सब लीलाएँ उठी हैं और उसी में लीन हो गयी हैं। चिदाकाश में करोड़ों ब्रह्मांड की उत्पत्ति होकर वे फिर उसी में लीन हो गये हैं ';९

प्रकृति का यह मनोमुग्धहारी वितान ही माया का क्षेत्र है। जीवन की प्रत्येक दिशा माया की क्रीडा-स्थली है। जीवन का प्रत्येक बन्धन माया से ओत-प्रोत हैं। प्रत्येक साँस के साथ हृदय की प्रत्येक धड़कन के साथ, अपनी प्रत्येक हलचल के साथ हम समझते हैं कि हम स्वतंत्र हैं और उसी क्षण हम देखते हैं कि हम स्वतंत्र नहीं हैं। क्रीत दास--हम प्रकृति के क्रीत दास हैं। यही माया है ''१० माया के बन्धनों से उन्नत्ति ही मोक्ष है जो मानव जीवन का अभीष्ट है।

---

९. वही पृ० ५४८।

१०. ज्ञानयोग-स्वामी विवेकानन्द-पृ०-१२४।

समुद्र की तरंगों का भेद सिर्फ नाम और रूप में है, और इस नाम और रूप की तरंगों से पृथक् कोई सत्ता भी नहीं है, नाम और रूप दोनों तरंगों के साथ ही हैं। तरंगें विलीन हो जा सकती हैं; और तरंगों में जो नाम और रूप हैं, वे भी चाहे चिरकाल के लिए विलीन हो जायँ, तथापि पानी पहले की तरह सम मात्रा में ही बना रहेगा। इस प्रकार माया ही तुममें और हममें, पशुओं में और मनुष्य में, देवताओं में और मनुयों में भेद-भाव पैदा करती है। सच तो यह है कि यह माया ही है जिसने आत्मा को लाखों प्राणियों में बाँध रखा है और यह माया नाम और रूप के सिवा और कुछ नहीं है। यदि उनका त्याग कर दिया जाय. नाम और रूप दूर कर दिये जायँ,......तब तुम वास्तव में जो कुछ हो वही रह जाओगे। माया उसे ही कहते हैं. ......वह संसार की घटनाओं का स्वरूप वर्णन मात्र है।

—स्वामी विवेकानन्द

भगवान बुद्ध के प्रति

—महाकवि निराला

आज सभ्यता के वैज्ञानिक जड़ विकास पर
गर्वित विश्व नष्ट होने की ओर अग्रसर
स्पष्ट दिख रहा; सुख के लिए खिलौना जैसे
बने हुए वैज्ञानिक साधन; केवल पैसे
आज लक्ष्य में है मानव के; स्थल-जल अम्बर
रेल तार-बिजली-जहाज नभयानों से भर
दर्प कर रहे हैं मानव, वर्ग से वर्गगण
भिड़े राष्ट्र से राष्ट्र, स्वार्थ से स्वार्थ विचक्षण।
हँसते हैं जड़वादग्रस्त, प्रेत ज्यों परस्पर,
विकृत-नयन मुख, कहते हुए, अतीत भयंकर
था मानव के लिये, पतित था वहाँ विश्वमन,
अपटु अशिक्षित वन्य हमारे रहे बन्धुगण;
नहीं वहाँ था कहीं आज का मुक्त प्राण यह,
तर्कसिद्ध है, स्वप्न एक है विनिर्वाण यह।
वहाँ विना कुछ कहे, सत्य-वाणी के मन्दिर,
जैसे उतरे थे तुम, उतर रहे हो फिर फिर
मानव के मन में, —जैसे जीवन में निश्चित
विमुख भोग से, राजकुंवर, त्यागकर सर्वस्थित
एक मात्र सत्य के लिये, रूढ़ि से विमुख, रत
कठिन तपस्या में, पहुँचे लक्ष्य को, तथागत !
फूटी ज्योति विश्व में, मानव हुए सम्मिलित,
धीरे धीरे हुए विरोधी भाव तिरोहित;
भिन्न रूप से भिन्न-भिन्न धर्मों में सञ्चित
हुए भाव, मानव न रहे करुणा से वञ्चित;
फूटे शत-शत उत्स सहज मानवता-जल के
यहाँ वहाँ पृथ्वी के सब देशों में छलके;
छल के, बल के पंकिल भौतिक रूप अदर्शित
हुए तुम्हीं से, हुई तुम्ही से ज्योति प्रदर्शित।

□

बुद्ध जयन्ती के अवसर पर

भगवान् बुद्ध : जीवन एवं तत्त्वोपदेश

—स्वामी वागीश्वरानन्द
रामकृष्ण मठ, नागपुर।

जीवन तथा तत्त्वोपदेश

बद्ध्वा पद्मासने यो नयनयुगमिदं न्यस्य नासाग्रदेशे
धृत्वा मूर्तौ च शान्तौ समरसमिलितौ चंद्रसूर्याख्यवातौ।
पश्यन्नंतर्विशुद्धं किमपि च परमं ज्योतिराकारहीनं
सौख्याम्भोधौ निमग्नः स दिशतु भवतां ज्ञानबोधं बुधोऽयम् ॥

आज बड़ा ही शुभ दिन है। आज वैशाखी पूर्णिमा है। इसी दिन करुणावतार भगवान् बुद्ध का आविर्भाव हुआ, इसी दिन सम्यक् संबोधि ज्ञान प्राप्त कर वे 'बुद्ध' बने और इसी दिन उनका महापरिनिर्वाण हुआ। आज के इस त्रिधापुनीत दिन, आइए, हम उनके परमपावन जीवन एवं तत्त्वोपदेशों की संक्षेप में आलोचना करें।

आज से कोई ढाई हजार वर्ष पहले की बात है। उस समय भारत की धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थिति नितान्त शोचनीय हो गयी थी। सनातन वैदिक धर्म के मूल सिद्धांतों के प्रति लोगों का आदर कम होता जा रहा था। बाह्य अनुष्ठानों के नीरस-निर्जीव आडम्बर में डूब कर लोग धर्म के प्राण को—अंतरंग को—भूल बैठे थे। शील, सदाचार आदि का ह्रास होकर विलासिता, स्वार्थपरायणता, इंद्रियलोलुपता का द्रुतगति से प्रसार हो रहा था। विद्वान् लोग केवल शुष्क बुद्धिवाद के बल पर नवीन मार्ग की व्यवस्था करने में लगे थे। एक ओर अंधविश्वास के कारण भाग्य और ईश्वर के नाम पर लोग आत्मविश्वास—पुरुषार्थ और स्वावलंबन के प्रति विश्वास खो बैठे थे; तो दूसरी ओर, व्यर्थ की दिमागी कसरतों के फलस्वरूप लोग अधिकाधिक संशयग्रस्त होते जा रहे थे। परस्पर विरोधी दृष्टियों के कारण साधारण जन धर्म का मार्ग चुनने में किंकर्तव्यविमूढ़ हो गये थे।

सामाजिक व्यवस्था भी बड़ी अस्तव्यस्त हो चली थी। जाति-वर्णों की विषमता बढ़ गयी थी। दास-दासियों तथा स्त्रियों की दशा अत्यंत हीन थी। भोग-विलास का प्रबल प्रादुर्भाव होने से समाज उच्छृंखल हो रहा था। सर्वत्र कलह, अशांति का वातावरण छा गया था।

ऐसे समय सनातन धर्म का पुनरुज्जीवन---विशुद्ध आर्यधर्म का अभ्युत्थान---अत्यंत आवश्यक था। और यह कार्य भगवान तथागत बुद्ध ने किया। अपने नितान्त निर्मल अत्युज्ज्वल त्याग-वैराग्य तपोमय जीवन के द्वारा उन्होंने निवृत्ति की महिमा पुनः प्रदर्शित की। शील और सदाचार की आधारशिला पर धर्म को प्रतिष्ठित करते हुए लोगों में आत्मविश्वास जगाया कि तुम प्रयत्न करने पर अपना मोक्ष आप साध्य कर सकते हो। मनुष्य की स्वतंत्रता, स्वावलंबन, मानवता के प्रति आदरभाव, युक्ति और तर्क के आधार पर सिद्धान्त ग्रहण इत्यादि की महत्ता प्रतिपादित करते हुए उन्होंने असंख्य लोगों का कल्याण साधन किया।

जीवन

भगवान बुद्ध का जीवन काल ईसवी पूर्व ६२४ से ५४४ (या मतान्तर से ई. पू. ५६३ से ४८३) तक माना जाता है।

उनके इस ८० वर्ष के जीवनकाल के हम तीन विभाग कर सकते हैं।

पूर्वभाग—प्रथम २८ वर्ष का---जन्म से गृहत्याग
मध्यभाग—२८ से ३५--तपश्चर्या और सिद्धिप्राप्ति

उत्तरभाग—३५ से ८०--धर्मप्रचार एवं परिनिर्वाण

आविर्भाव—प्राचीन कोशल जनपद के प्रधान नगर, स्वतंत्र गणराज्य कपिलवस्तु के शाक्यवंशीय राजा शुद्धोदन की रानी महामाया या मायादेवी के गर्भ से वैशाखी पूर्णिमा को भगवान बुद्ध का जन्म हुआ। प्रसूति के लिए अपने पीहर देवदहनगरी को जाते समय कपिलवस्तु से १४-१५ मील दूर लुंबिनी नामक उपवन में शाल वृक्षों के नीचे रानी प्रसूत हुईं और इसके बाद सातवें ही दिन उनका शरीरान्त हो गया। बालक का पालन-पोषण उसकी मौसी महाप्रजावती या गौतमी ने किया, जो उसकी विमाता भी थी।

पुत्र जन्म से अपने मनोरथ सिद्ध होते देख शुद्धोदन ने बालक का नाम सिद्धार्थ रखा। बालक का दूसरा नाम 'गौतम' हुआ।

कुमार जन्मतः ही असामान्य महापुरुषलक्षणों से युक्त था। भविष्यज्ञ ब्राह्मणों ने उसके भविष्य के संबंध में कहा कि यह बालक या तो चक्रवर्ती सम्राट् होगा या सम्यक् संबुद्ध होगा।

कुमार के जन्मोत्सव के समय असित मुनि ने आकर उसका दर्शन करते हुए शुद्धोदन से कहा था—"राजन्, यह बालक संसार को अपूर्व धर्मज्ञान प्रदान करेगा। पर दुःख की बात है कि मैं उस समय नहीं रहूँगा। अनेक युगों के बाद ही ऐसा नररत्न जन्म ग्रहण करता है। इसे देख मैं धन्य हुआ!"

बाल्य में समाधि अनुभव की घटना—शाक्यों की प्रथा के अनुसार प्रतिवर्ष आषाढ़ में 'वप्रमंगल' का उत्सव होता था जिसमें राजा स्वयं हल चलाता था। एक बार इस उत्सव के अवसर पर पिता के साथ बालक सिद्धार्थ खेत पर गया हुआ था। सब लोग जब उत्सव में व्यस्त थे तब अकेला बालक जम्बुवृक्ष के नीचे वज्रासन लगाये बैठ गया। इस अवस्था में उसे 'प्रज्ञापारमिता' या सर्वोच्च ज्ञानानुभूति की झलक मिली थी।

गुरुगृहवास तथा शिक्षा :—योग्य समय में बालक ने गुरुगृह में रहते हुए वेद, पुराण, धर्म शास्त्र, दर्शन शास्त्र, इतिहास आदि शास्त्रों का अध्ययन किया और धनुर्विद्यादि अनेक कलाओं में पारंगत हुआ।

बाल्यावस्था से ही बालक शांत, गंभीर और विचारशील था। उसके हृदय में अनित्य संसार के प्रति विराग और परमसत्य के प्रति अनुराग तीव्रता से प्रवाहित हो रहा था।

विवाहः—१८ वर्ष की आयु में सिद्धार्थ गुरुगृह से लौट आया। राजा शुद्धोदन ने उसका विवाह कोलिय वंश की राजकुमारी यशोधरा गोपा से करा दिया। पुत्र की वैराग्यप्रवणता देख शंकित होकर शुद्धोदन उसे संसार-सुखों की ओर आकर्षित करने का भरसक प्रयत्न करने लगे। उन्होंने कुमार और यशोधरा के लिए तीन ऋतुओं के अनुकूल तीन सुखप्रासाद बनवा दिये तथा उन्हें सब प्रकार के भोगविलास के साधनों से परिपूर्ण कर दिया। संसार का दुःखमय रूप उनके सामने न आ पाये इसलिए इस स्नेहान्ध पिता ने सब तरह से सावधानियाँ बरतीं। परंतु व्यर्थ!

आख्यायिका है कि समय-समय पर नगर-परिभ्रमण के लिए निकलकर कुमार ने जरा, व्याधि एवं मृत्यु के दृश्य देखे और तब से उनका वैराग्यानल और तीव्रता से धधकने लगा। उन्होंने अनुभव किया कि संसार अत्यंत दुःखमय है। सभी जीव मानो अशांति और दुःख की ज्वाला से सदा जल रहे हैं। वे व्याकुल होकर पार जाने का उपाय सोचने लगे।

फिर एक बार एक काषायवस्त्रधारी संन्यासी की शांत, प्रसन्न मुद्रा देख सिद्धार्थ के मन में आया—यही शांति का मार्ग है। उन्हें मानो मार्ग का संधान मिल गया। उन्होंने निश्चय किया कि आज ही गृहत्याग कर आत्यंतिक सुख का मार्ग ढूँढ़ निकालने का प्रयत्न आरंभ करूँगा।

इस समय सिद्धार्थ की आयु २८ वर्ष की हो चुकी थी।

महाभिनिष्क्रमणः--प्रासाद में लौटकर सिद्धार्थ ने सुना कि यशोधरा ने पुत्र प्रसव किया है। समाचार सुनते ही

सिद्धार्थ ने कहा—"यह राहु हुआ—बंधन हुआ।" शुद्धोदन ने यह सुनकर अत्यंत आनंदित हो कहा कि शिशु का नाम 'राहुल' (शृंखला) रखा जाए। वास्तविक ही इस बंधन के कारण सिद्धार्थ का मन संसार की ओर आकर्षित होगा।

पर हुआ इसके ठीक विपरीत ही।

मध्यरात्रि में सिद्धार्थ उठे और अपने मंचक पर पद्मासन लगाये जन्म, जरा, व्याधि, मरण से कवलित मानव जीवन का गंभीर विचार करने लगे।

पुत्र जन्म के आनंद में जो उत्सव हुआ था उसमें नृत्यगीतादि कर नृत्यांगनाएँ पास ही निद्राभिभूत हो अस्तव्यस्त पड़ी सो रही थीं। निद्रामग्न अवस्था में उनका घृणास्पद रूप देख सिद्धार्थ ने कहा—"रूपसौन्दर्य कितनी नश्वर और भुलावे में डालने वाली वस्तु है। अभी जो रंगभूमि थी, अभी वह मानो श्मशान बन गई है। मुझे ऐसा क्षणभंगुर आनंद नहीं चाहिए। मैं शाश्वत सुख का मार्ग ढूँढ़ निकालूँगा जिससे केवल मुझे ही नहीं, समस्त मानवजाति को कल्याण प्राप्त होगा।"

सिद्धार्थ उठकर यशोधरा के महल में आये। यशोधरा राहुल को छाती से लगाये सुख की नींद सो रही थीं। वह हृदयस्पर्शी दृश्य देख सिद्धार्थ का मन क्षण भर के लिए विचलित हुआ, पर साथ ही साथ उनके मन में विचार आया—यदि मैं इस समय कोमलता दिखाऊँ तो यह संधि कभी न आएगी।

उन्होंने मन ही मन कहा—"यशोधरे, तुम्हें न तुम्हें बताते हुए मैं छोड़ प्रव्रज्या लेने जा रहा हूँ, इससे तुम यह न समझना कि मेरा तुम पर प्रेम नहीं है। मेरा मन तो अब पहले से अधिक मृदु हो गया है। सभी प्राणियों के दुःख से मेरा मन दुखी हो रहा है। मैं यथार्थ प्रेम करना सीखने जा रहा हूँ।"......

फिर बाहर आकर उन्होंने छन्न नामक सारथी को जगा अपने प्रिय घोड़े कंथक को निकलवाया और उस पर सवार हो चल पड़े। छन्न घोड़े की पूँछ पकड़े पीछे-पीछे चलने लगा। रात भर चलने के बाद सूर्योदय के समय वे राज्य की सीमा पर स्थित ओनामा नदी के उस पार पहुँचे। वहाँ उन्होंने अपने सुन्दर केशों को काट डाला और अपने बहुमूल्य वस्त्र अलंकारादि उतारकर छन्न को देते हुए उसे घोड़े के साथ वापस भेज दिया एवं काषाय वस्त्र धारण कर राजगृह की की ओर चलने लगे।

यह प्रसंग बौद्ध साहित्य में 'महाभिनिष्क्रमण' नाम से प्रसिद्ध है।

आडार कालाम और उद्दक रामपुत्त

सिद्धार्थ भिक्षाचर्या करते हुए राजगृह के समीप आए। यहाँ आडार कालाम नामक विख्यात ऋषि के आश्रम में रह उनके उपदेशानुसार साधना करते हुए उन्होंने समाधि की सात सीढ़ियों का ज्ञान प्राप्त किया और अल्प समय में सर्वोच्च 'अकिंचन्य समाधि' में सिद्ध हुए। पर यह जानकर कि इसके द्वारा निर्वाण नहीं मिल सकता है, उन्होंने आडार कालाम से विदा ली।

फिर सिद्धार्थ उद्दक रामपुत्त नामक प्रख्यात तपस्वी ऋषि के आश्रम में आये और उनके उपदेशानुसार साधना करते हुए वे पूर्व की समाधि से भी उच्च समाधि 'नैवसंज्ञानासंज्ञायतन समाधि'—में सिद्ध हुए। परन्तु उन्होंने देखा कि इससे भी तृष्णा का समूल उच्छेदन---निर्वाण नहीं हो सकता। अतः वे वहाँ से चल पड़े।

तपश्चर्या :—चलते-चलते सिद्धार्थ गया के निकट उरुवेला आये और नैरंजरा (निरंजना) नदी के तट पर मनोरम वनस्थली में तपस्यानुकूल स्थान देखकर उन्होंने तपस्या आरंभ की।

उन्होंने अत्यन्त कठोर योगाभ्यास आरंभ किया। श्वासोच्छवास बन्द कर वे घंटों मृतवत् ध्यानस्थ बैठे रहते। आहार की मात्रा कम करते-करते वे पूर्ण अनशन पर आ गये। उनका कठोर तप देखकर मुग्ध हो कौंडिन्य, वप्र, भद्रिय, महानाम और अश्वजित् नामक पाँच ब्राह्मण तपस्वी उनकी बड़ी श्रद्धापूर्वक सेवा करने लगे। इस प्रकार छह वर्ष की घोर तपश्चर्या और देह-

दंडन के फलस्वरूप उनका रक्त-मांस सूखकर देह में केवल अस्थि चर्म ही रह गया। शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया और उसमें असह्य पीड़ा होने लगी। परन्तु इस आत्यन्तिक आत्मनिर्यातन के मार्ग पर चलकर उन्हें परम शांति का संधान नहीं मिला।

तब उनके मन में विचार आया कि बचपन में जम्बुवृक्ष के नीचे मुझे जिस प्रकार समाधि सुख का अनुभव हुआ था वैसा आज क्यों नहीं हो रहा है? उस समय तो मैंने देहदंडन बिलकुल नहीं किया था। अवश्य ही यह सत्यप्राप्ति का सही मार्ग नहीं है

अब उन्होंने मध्यम पंथा का अवलंबन करने का निश्चय किया अर्थात् परिमित मात्रा में आहार आदि करते हुए ध्यानमार्ग से समाधि प्राप्त करने का संकल्प किया। बड़ी कठिनाई से किसी प्रकार थोड़ा चलते हुए उन्होंने भिक्षाचर्या आरंभ की। धीरे-धीरे उनके शरीर में बल आने लगा।

यह देख उनके पाँच तपस्वी साथियों ने सोचा कि सिद्धार्थ समाधिभीरु है, तप की कठिनाइयों से घबड़ाकर वह मार्गभ्रष्ट हो गया है। वे उन्हें छोड़ उनकी निंदा करते हुए काशी की ओर चले गये।

मार युद्धः—परिमित भोजनादि से धीरे-धीरे सिद्धार्थ का स्वास्थ्य सुधर गया और उनकी कान्ति पुनः तेजस्वी दीखने लगी। वे प्रसन्नतापूर्वक तपस्या करते हुए समाधिसुख का अनुभव करने लगे।

होते-होते वैशाखी पूर्णिमा का दिन आया। उस दिन सुजाता नामक एक स्त्री ने बोधिवृक्ष के नीचे इन तेजस्वी संन्यासी को देख वनदेवता समझकर उन्हें खीर निवेदित की। खीर ग्रहण कर सिद्धार्थ घूमते हुए एक दूसरे बोधिवृक्ष के नीचे आये और सोत्थिय नामक एक घसियारे से प्राप्त घास की आठ पूली को वृक्ष के नीचे बिछाकर उन्होंने आसन तैयार किया। संध्यासमय उस आसन पर बैठ उन्होंने दृढ़ संकल्प किया "इहासने शुष्यतु में शरीरं त्वगस्थिमांसं प्रलयं च यातु। अप्राप्य बोधिं बहुकल्पदुर्लभां नैवासनात् कायमतश्चलिष्यते ॥,'

"इस आसन पर बैठे हुए चाहे मेरी देह सूख जाए, खाल, मांस और हड्डियाँ नष्ट हो जाएँ, पर बहुकल्प के दुष्प्राप्य बोधिज्ञान को प्राप्त किये बिना मैं यहाँ से तनिक भी नहीं डिगूँगा।,'

इस प्रकार दृढ़ संकलपपूर्वक समाधि लगाते ही सिद्धार्थ का मन द्रुत गति से ध्यान के उत्तरोत्तर गंभीर स्तरों को भेदता हुआ परमबोधि–सम्यक् संबोधि--के अति निकट पहुँच गया। छह वर्ष जिसके लिए घोर तपाचरण किया वह बहुप्रतीक्षित सत्य—साक्षात्कार का क्षण अत्यन्त समीप आ गया। इस समय उनके चित्त में समाधि के अंतिम अंतराय या विघ्नस्वरूप कुछ विक्षेप या विपरीत मनोभाव आ उपस्थित हुए और उन्हें विचलित करने का प्रयत्न करने लगे। परंतु तीव्र वैराग्य, विवेक और सत्यानुराग की दृढ़ भूमि पर अवस्थित सिद्धार्थ के मन ने इन पर सर्वतोभावेन विजय पा ली।

त्रिपिटक आदि बौद्ध ग्रन्थों में इस कामरूपी विघ्न को "मार' कहा है और मार के साथ सिद्धार्थ के संग्राम का बड़ा रोचक और मोनज्ञ वर्णन किया है।

सिद्धार्थ उसके प्रभाव से मुक्त हो बुद्ध न बन पायँ इसलिए मार ने उसे विरत करने का प्रयत्न किया। आँधी, पानी, पत्थरों, हथियारों, धधकती राख, बालू और कीचड़ की घनघोर वर्षा करते हुए उसे डराना चाहा। फिर तृष्णा, प्रीति और रति नामक अपनी तीन कन्याओं एवं विभ्रम, हर्ष और दर्प नामक तीन पुत्रों को भेजा। फिर अपनी पूरी सेना के साथ उन पर टूट पड़ा। पर व्यर्थ! सिद्धार्थ के अपूर्व तपोबल और तेज के सामने अंत में मार पराभूत हो गया।

अस्तु। महामाया की अंतिम परीक्षा में गौरवपूर्वक उत्तीर्ण होकर सिद्धार्थ चरम समाधि के सर्वोच्च शिखर पर आरूढ़ हुए।

अभिसंबोधन—रात्रि के प्रथम भाग में उन्हें 'जातिस्मरत्वज्ञान' या 'पूर्वानुस्मृतिज्ञान' का दर्शन हुआ। उन्हें अपने शतसहस्र पूर्व जन्मों की बातें स्मरण हुईं।

द्वितीय याम में उन्हें दिव्यचक्षु प्राप्त हुए और इस अपार्थिव विशुद्ध दृष्टि से उन्हें उच्च-नीच, सुगत-दुर्गत सभी प्राणी संसार के प्रबल कर्मबंधन में जकड़े दिखाई पड़े। इसे 'दिव्यचक्षुज्ञान-दर्शन' कहते हैं।

रात्रि के तृतीय याम में उन्हें 'आश्रवज्ञानदर्शन' नामक दर्शन प्राप्त हुआ। उन्होंने दु:ख दु:खसमुदय, दु:ख-निरोध और दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपद नामक चार आर्यसत्यों का साक्षात्कार किया और उन्हें समस्त संसार कार्य-कारण के सूत्र में बद्ध और ओतप्रोत दिखाई देने लगा। दु:ख निदान की इस क्रमिक शृंखला को बौद्ध दर्शन में 'प्रतीत्यसमुत्पाद' कहा गयाहै।

इस प्रकार रात्रि का अंतिम प्रहर व्यतीत हो उषा का आगमन हुआ। पूर्व गगन में भगवान् भुवनभास्कर उदित होने लगे, तव सिद्धार्थ के अंत:करण में सम्यक् संबोधि का उदय हुआ--उन्हें निर्वाण प्राप्त हुआ। यथा-तथ्य दर्शन प्राप्त कर वे बुद्ध बन गये—तथागत बन गये। उनकी सत्याकांक्षा सफल हुई। वे धन्य हो गये—कृतकृत्य हो गये।

असीम आनंद में निमग्न हो वे यह उदानगान करने लगे—

"अनेक जाति संसारं संधाविस्समनिब्बसं।
गहकारकं गवेसंतो दुक्खा जाति पुन'पुनः।
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंकितं।
विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा।"

"मैं अनेक जन्म से संसार में पुन: पुन: जन्म के दु:खों को सहता हुआ उस देहरूपी घर बनानेवाले को ढूँढ़ता रहा, पर वह न मिला। अब हे गृहकारक, मैंने तुझे देख लिया। अब तू फिर दूसरा धर न बना पाएगा। अब तेरी सब कड़ियाँ टूट-फूट गयीं, गृहकूट भी बिखर गया। तृष्णा का क्षय होकर मेरा चित्त संस्कार रहित हो गया।"

मुक्तिसुखास्वादन :—बोधि ज्ञान प्राप्त कर भगवान् बुद्ध सात सप्ताह तक बोधिद्रुम के आसपास भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक-एक सप्ताह विचरते हुए विमुक्ति-रूप परम सुख का आस्वाद लेते रहे।

प्रथम सप्ताह में तो उसी बोधिद्रुम के तले बैठकर वे द्वादश निदान वाले प्रतीत्यसमुत्पाद तत्त्व का अनु-लोम विलोम रीति से विचार-मनन करते रहे।

दूसरे सप्ताह में वे थोड़ी दूर जाकर भावविभोर हो चंक्रमण (चहलकदमी) करते रहे।

तीसरे सप्ताह बोधिवृक्ष की ओर अनिमेष दृष्टि से ताकते हुए शांत बैठे रहे।......

इस तरह सात सप्ताह तक आनंदानुभव में विभोर रहने के बाद भगवान् अजपाल वृक्ष के नीचे आये और ध्यानमग्न बैठकर विचार करने लगे—'अनेक जन्मों की कठोर तपस्या के फलस्वरूप मैंने इस अपूर्व बोधिज्ञान के प्राप्त किया। यह अत्यंत गंभीर, दुर्दर्श और सूक्ष्म है। इसका स्वरूप संसार के प्रवाह के संपूर्ण विपरीत है। पर संसारी लोग तो 'आलयराम' है। वे सदा कामतृष्णा में रममाण, रागद्वेष में निमग्न हैं। भला वे इस तृष्णा-क्षय, विराग, निरोध, निर्माण-रूप सत्यधर्म को कैसे समझ सकते हैं?

'किच्छेन मे अधिगतं हलं दानि पकासितुं
रागदोसपरे ते हि नायं धम्मो सुसंबुधो।
पटिसोतगामिं निपुणं गंभीरं दुद्दसं अणुं
रागरत्ता न दक्खिन्ति तमोक्खंधेन आवटा।।'

ब्रह्मयाचना :—इस प्रकार परिवितर्क कर भगवान् तथागत धर्मोपदेश के प्रति उदासीन हो गये। उनका मन निर्वाणोन्मुख होने लगा। यह मानो विश्व के भाग्य-निर्णय का अद्वितीय क्षण था। लोकानुकंपावश अवतीर्ण भगवान् यदि युगधर्म का—अपने नवानुभूत संबोधि धर्म का—उपदेश न करते तो अज्ञानांधकार में निमग्न असंख्य जीवों की क्या दशा होती?--उसके अवतारत्वका प्रयोजन ही व्यर्थ हो जाता। इस समय सहम्पति ब्रह्मा ने उनके समक्ष आविर्भूत हो उन्हें दृष्टान्तसहित दिखा दिया

कि सभी प्राणी अज्ञानद्वारा पूर्ण आवृत नहीं हैं -कुछ अल्प मलयुक्त प्राणी भी हैं, जो धर्मउपदेश के अभाव में नष्ट हो जाएंगे। फिर उन्होंने उनसे धर्मोपदेश देने के लिए प्रार्थना की।—

"पथरीले पर्वत शिखर पर खड़ा व्यक्ति जैसे चारों ओर जनता को देखे उसी प्रकार हे सुमेध हे, सर्वव नेत्र वाले, धर्मरूपी प्रासाद पर चढ़ सब जनता को देखो। हे शोकरहित! शोकनिमग्न, जन्म-जरा से पीड़ित जनता की ओर दखो। उठो वीर, हे संग्रामजित्! हे सार्थ-वाह! उऋण-ऋण जग में विचरण करो। धर्म प्रचार करो। तुम्हें जानने वाले मिलेंगे।"

सेले यथा पब्बतमुद्धनिट्ठितो, यथापि पश्ये जनतं समंततो।

तथुपमं धम्ममयं सुमेद्ध, पासादमारुह्य समंतचक्खु।

सोकावतिन्नं जनतमपेतसोको अवेक्खसु जाति जराभिभूतं।

उट्ठेहि वीर! विजितसंगाम, सत्थवाहा अनन विचर लोके।

देसस्सु भगवा धम्मं अञ्जाताशरो भविस्संति।

(महावग्ग)

तब भगवान् बुद्ध ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा "हे ब्रह्मा! अमृत का द्वार उनके लिए खुल गया जो श्रद्धापूर्वक सुनेंगे। मेरा श्रम कहीं व्यर्थ न चला जाए यही सोचकर मैं मनुष्यों में अपने सद्धर्म का उपदेश नहीं करना चाहता था।"—

अपारुता तेसं अमतस्स द्वारा ये सोतवंतो पमुंचंतु सद्धं।
विहिंससञ्ञी पगुणं न भासिं, धम्ममपनीतं मनुजेसु ब्रह्मे।"

बुद्धदेव सम्मत हुए। यहाँ से उनके जीवन का एक नया पर्व आरम्भ हुआ। 'धर्मोपदेश ग्रहण-क्षम अधिकारी कौन हैं इसका विचार करते ही उनकी आंखों के सामने उत्तम और मध्यम अधिकारी के रूप में क्रमशः ऋषि उद्दकरामपुत्त और आडार कालाम का चित्र आया। पर दुर्भाग्यवश ये दोनों महात्मा संसार से चल बसे थे। तब भगवान् को उन पंचवर्गीय भिक्षुओं का स्मरण हो आया जो उन्हें उरुवेला में छोडकर वाराणसी के निकट ऋषिपत्तन चले गये थे। यद्यपि वे अधम अधि-कारी ही थे तथापि अन्यों की अपेक्षा उनकी आत्मा शुद्ध थी, संस्कार शुभ थे। उन्हीं को लेकर अपनी धर्म देशना आरंभ करने के उद्देश्य से भगवान् बुद्ध बाराणसी आये।

(शेषांश अगले अंक में)

□

एक हजार वर्ष तक जिस विशाल तरंग ने समग्र भारत को डुबा दिया था, उसके सर्वोच्च शिखर पर हम एक और महामहिम मूर्त्ति को देखते हैं। वे दूसरे कोई नहीं—हमारे गौतम शाक्य मुनि हैं।...... हम उनको ईश्वरावतार समझ कर उनकी पूजा करते हैं, नीतितत्त्व का इतना वड़ा निर्भीक प्रचारक संसार में और उत्पन्न नहीं हुआ। वे कर्मयोगियों में सर्वश्रेष्ठ हैं। स्वयं कृष्ण ही मानो शिष्यरूप से अपने उपदेशों को कार्य में परिणत करने के लिए उत्पन्न हुए।

—स्वामी विवेकानन्द

नारद-भक्ति-सूत्र

—श्रीमत स्वामी वेदान्तानन्द
सचिव, रामकृष्ण मिशन आश्रम, पटना।

तृतीय अनुवाक

भक्ति के लक्षण और उदाहरण

तल्लक्षणानि वाचयन्ते नानामतभेदात् ॥१५॥

मतभेदात् (विभिन्न मतों के अनुसार), तल्लक्षणानि (भक्ति के लक्षण) नाना, (भिन्न-भिन्न रूप से), वाचयन्ते (कहे गये हैं) ॥१५

विभिन्न मतों के अनुसार भक्ति के भिन्न-भिन्न लक्षण कहे गये हैं ॥१५

प्रेम और भक्ति—इन दोनों बातों का हमलोग अनेक अर्थों में प्रयोग करते हैं। सांसारिक सम्बन्ध में भी दोनों बातों का व्यवहार होता है। किन्तु प्रकृत भक्ति जो एकमात्र ईश्वर के प्रति ही संभव है, उसकी चर्चा पहले ही की गयी है। फिर उसी बात को विशेष भाव से कहने के लिए आलोच्य एवं परवर्ती कुछ सूत्रों की अवतारणा हुई है। साधक भक्तों ने भी दोनों बातों का अनेक अर्थों में प्रयोग किया है; जो जिस विशेष भाव के भावुक हैं उन्होंने उस भाव की उपयोगी भाषा में अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने की चेष्टा की है।

पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः ॥१६॥

पूजादिषु (भगवान की पूजा आदि में) अनुरागः (प्रेम), [भक्ति होती है], इति (यह) पाराशर्यः (पराशरनन्दन वेदव्यास का मत है) ॥१६

पूजा एवं उपासनामूलक विविध कर्मों में, अनुराग होने को महर्षि वेदव्यास के मतानुसार भक्ति कहा गया है ॥१६

भक्त चाहते हैं—तन, मन और वचन द्वारा अपने सर्वस्व का अर्पण कर सर्वदा भगवान की पूजा और सेवा करना। यह पूजा वे किसी विशेष मूर्त्ति का आश्रय लेकर करते हैं, अथवा निखिल विश्व में वे (ईश्वर) विराजमान हैं, इस भाव से सभी प्राणियों में उनकी सेवा करते हैं। उनकी पूजा में मन लगाकर रख पाने से फिर मन चंचल विषयोन्मुखी होने का अवसर नहीं पाता। दो भक्त-बधुओं को लक्ष्य कर श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था—"देखो, तुम लोग शिव-पूजा करो। कैसे पूजा करनी होगी? 'नित्यकर्म' नामक पुस्तक है। उस पुस्तक को पढ़कर देख लेना। भगवान की पूजा करने से भगवान के कार्य कई क्षणों तक कर पाओगी। फूल तोड़ना, चन्दन घिसना, भगवान का बर्तन माँजना, भगवान के जलपान की थाल सजाना—इन सारे कार्यों को करने से इसी ओर मन लगा रहेगा। हीन बुद्धि, राग, द्वेष, हिंसा—ये सब चले जायँगे। दोनों जाकर जब कथा कहोगी तब भगवान की ही कथा-वार्ता कहना।

किस प्रकार भगवान में मन का योग करना चाहिए? इस प्रकार कि एक बार भी उन्हें भूला नहीं जाय। जिस प्रकार तेल की धारा होती है। उसके भीतर खंड नहीं होता। एक ईंट या पत्थर को मानकर यदि भक्तिभाव से उसकी पूजा करो, तो उससे भी उनकी कृपा से ईश्वर का दर्शन हो सकेगा।

पहले जो कहा है—शिवपूजा, यह सब करनी होगी। इसके बाद भक्ति पक्की हो जाने पर अधिक दिनों तक पूजा नहीं करनी होगी। तब सर्वदा ही मन

का योग बना रहता है, सर्वदा स्मरण-मनन होता रहता है।"

"अधिकारी के भेद से विभिन्न प्रकार की पूजा का वे (ईश्वर) ही आयोजन करते हैं।"

बाह्य एवं मानस---इन दो प्रकार की पूजा ही प्रयोजनीय है। बाह्य पूजा का सुयोग सब समय नहीं होता; किन्तु, मानस पूजा सर्वदा हो सकती है। जप भी पूजा का एक विशेष अंग है। इस सूत्र में विशेष भाव से कायिक सर्वविध सेवा, पूजा, उपासना की बात लक्ष्य की गयी है।

"ईश्वर में मन के योग का अभ्यास करना होगा। पूजा, जप, ध्यान---इन सब का नियमिम अभ्यास करना होगा।"

कथादिष्विति गर्गः ॥१७॥

कथादिषु (भगवान की कथा में—नाम-श्रवण और कीर्तन में) [अनुराग होना भक्ति का लक्षण है], इति (यह), गर्गः (ऋषि गर्ग) [कहते हैं] ॥१६

महर्षि गर्ग के मतानुसार भगवान के नाम-श्रवण एवं कीर्तन में अनुराग होना भक्ति का लक्षण है ॥१६

इस सूत्र में विशेष रूप से वाचिक उपासना की बात कही गयी है। 'बात' कहने से हर प्रकार की वाचिक उपासना समझनी होगी। भगवद्-विषयक संगीत, ग्रंथादि की रचना भी इसी वाचिक उपासना के अंतर्गत है।

एक दिन संकीर्तन के उपरान्त श्रीरामकृष्णदेव ने कहा था---'यही कार्य हुआ, और सब मिथ्या है। प्रेमा-भक्ति वस्तु है और सब अवस्तु है।"

"भक्ति ही सार है। उनका नामगुण-कीर्तन सर्वदा करते-करते भक्ति लाभ होता है।'हाजरा ने कहा, 'उनकी पूजा कर क्या होता है! उनकी ही वस्तु उन्हें देना! भक्त अपने आप को ही पुकारता है।' उत्तर में श्रीरामकृष्ण ने कहा,—"तुम जो कहते हो, इसी के लिए साधन-भजन, उनका नाम-गुणगान होता है। अपने भीतर अपने को देख पाने से सब कुछ उपलब्ध हो गया। इसे देख पाने के लिए ही साधना करनी होती है। और इसी साधना के लिए शरीर है······वे केवल भीतर ही नहीं हैं, भीतर-बाहर सर्वत्र हैं। कालीघर में माँ ने मुझे दिखाया कि सभी चिन्मय हैं। माँ ही सब हो गयीहै। प्रतिमा की पूजा की थाली, जल-पात्र चौकठ, संगमरमर पत्थर—सब चिन्मय हैं।

इसी को साक्षात् करने के लिए ही उनकी पुकार—साधन-भजन, उनका नाम-गुण कीर्तन होते हैं। इसके लिए ही उनकी भक्ति करनी होती है।"

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि।
वक्तारं प्रच्छकं श्रोतॄं स्तत्पाद सलिलं यथा॥
[भा० १०।१।१६]

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा
स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः।
अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो
यदुत्तमश्लोक गुणानुवर्णनम्॥
[भा० १।५।२२]

'श्री भगवान के चरणों से निःसृत गंगाजल जिस प्रकार सबको पवित्र करता है, उसी प्रकार भगवान की कथा विषयक प्रश्न वक्ता, प्रश्नकर्त्ता एवं श्रोता—तीनों को पवित्र करता है।'

'पण्डितगण कहते हैं, भगवान के गुण एवं लीला के वर्णन से मनुष्य की सारी तपस्याओं, वेदाध्यन, यज्ञानुष्ठान, ज्ञान और दान की सार्थकता सम्पादित होती है।'

आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्यः ॥१८॥

आत्मरत्यविरोधेन (आत्मरति के अविरोधी विषयों के प्रति), [अनुराग का नाम भक्ति है]; इति शाण्डिल्यः (यह शाण्डिल्य का मत है) ॥१८

महर्षि शाण्डिल्य के मत से आत्मरति के अविरोधी विषयों के प्रति अनुराग का नाम भक्ति है ॥१८

विषय-वासना का पूर्णतया नाश होने पर ही आत्म-रति—एकमात्र आत्मा से ही प्रीति होना सम्भव है।

और वासना का नाश पूर्णतः मानसिक व्यापार है। चौबीसो घंटे में पूजा, कीर्तन, स्तुति में दिन व्यतीत कर सकता हूँ; किन्तु इससे वस्तुतः मेरे अन्तर में यथार्थ भक्ति नहीं हो सकती है। इसी से शाण्डिल्य कहते हैं, उसी को यथार्थ भक्ति कहूँगा जिसमें आत्मरति के विरोधी विषयों का लेशमात्र नहीं हो। उस अवस्था में अपने को देहातीत आत्मा मानकर सर्वदा यथार्थ अनुभव रहेगा और भगवान भी आत्मरूप से सभी भूतों में उपस्थित हैं—यह बोध भी पक्का होगा। भक्ति जिस विशेष भाव से मानस व्यापार है, इस सूत्र में उसे ही कहा गया है।

श्रीरामकृष्णदेव अपनी साधनावस्था की कथा का वर्णन करते हुए कहते हैं, "देखो, मैं उन दिनों अनुभव करता था, भगवान मानो समुद्र के जल की भाँति सभी स्थलों पर पूर्ण रूप में रहते हैं, और मैं जैसे एक मछली हूँ—उस सच्चिदानन्द सागर में डूबता हूँ, बहता हूँ, तैरता हूँ। ठीक ध्यान होने पर इसे सच-सच देखोगे। फिर कभी-कभी मन में होता, मैं जैसे एक घड़ा हूँ, उस जल में डूबा रहता हूँ, और मेरे भीतर-बाहर वही अखण्ड सच्चिदानन्द पूर्ण होकर रहते हैं।

कभी कहता-तुम ही मैं हो और मैं ही तुम हूँ, फिर कभी 'तुम ही तुम' हो जाता, तब मैं ढूँढ़कर नहीं पाता।"

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम व्याकुलतेति ॥१९॥

तु (किन्तु) नारदः (नारद) [कहते हैं] तदर्पिता-खिलाचारतः (भगवान में आत्मसमर्पण और समस्त कर्मों का फल-समर्पण) [एवं] तद्विस्मरणे (उनके विस्मरण से), परम व्याकुलता (एकान्त व्याकुलता), इति (यह भक्ति का लक्षण है) ॥१९

देवर्षि नारद के मत से तन-मन-वचन के द्वारा जो कुछ अनुष्ठित होता है उसे सर्वदा इष्ट के चरणों में समर्पण करना एवं एक क्षण के लिए भी इष्ट का विस्मरण होने से एकान्त व्याकुल होना भक्ति का लक्षण होता है ॥१९

पूर्ववर्ती तीन सूत्रों में भक्ति के एक-एक भाव के ऊपर विशेष भाव से जोर दिया गया था। इस सूत्र में नारद ने उन सब को ग्रहण कर भक्ति की सर्वाङ्ग सम्पूर्ण संज्ञा प्रदान की है। जीवन के सारे कर्म---पूजा, जप, कीर्तनादि जिन सारे कर्मों को हमलोग साधारणतः साधना के अंग के रूप में ग्रहण करते हैं, केवल वे ही कर्म नहीं—ईश्वर में समर्पित करना भक्ति का लक्षण है सभी कर्मों के बीच भक्त नित्य उनका (ईश्वर का) स्मरण करेंगे, और क्षण मात्र के लिए उन्हें भूलने पर अपने हृदय में तीव्र यातना का अनुभव करेंगे। उन्हें भूलने से ही तो मन तुच्छ विषयों में रत होता है।

"ईश्वर में प्रीति होने पर केवल उनकी कथा कहने की ही इच्छा होती है। जो जिसे प्रेम करता है, उसकी कथा सुनाना और कहना उसे अच्छा लगता है।"

"शुद्ध भक्त और कुछ नहीं चाहता, उसे और कुछ अच्छा नहीं लगता। उन सबकी गति केवल ईश्वर की ओर होती है। एक प्रकार की पंखवाली चींटी होती है, वह प्रकाश देखते ही उस ओर दौड़ पड़ती है, वह उस पर प्राण दे देती है, फिर भी अन्धकार की ओर पुनः लौट कर नहीं जाती। उसी प्रकार जो लोग भगवान के भक्त होते हैं, वे जहाँ साधु रहते हैं और ईश्वर की कथा होती है, वहाँ दौड़ पड़ते हैं, साधन-भजन छोड़कर संसार के असार पदार्थ में फिर बँधते नहीं।"

"जब वे (ईश्वर) मुक्ति देंगे तभी उन्हें (ईश्वर को) पाने के लिए व्याकुलता देते हैं। नौकरी छूट जाने पर किरानी की जैसी व्याकुलता होती है, वह जिस प्रकार रोज दफ्तर-दफ्तर घूमता और जिज्ञासा करता है—हाँ जी, कोई भी काम खाली हुआ है? व्याकुलता होने पर छटपट करता है—किस तरह ईश्वर को पाऊँगा।"

"मूँछ पर ताव दे, पाँव पर पाँव रखकर बैठे हुए हैं, पान चबा रहे हैं, कोई भावना नहीं है, इस प्रकार की अवस्था होने पर ईश्वर-लाभ नहीं होता।"

भक्त चाहते हैं सभी कार्यों के बीच उन्हें ही देखना,

उन्हीं की सेवा करना। "कृष्ण के मथुरा जाने पर यशोदा राधिका के समीप आयी थीं। श्रीमती राधा ध्यानस्थ थीं। तदुपरांत यशोदा से बोलीं,'कृष्ण चिदात्मा हैं और मैं चित्शक्ति। तुम कुछ वरदान माँग लो।' यशोदा बोलीं, 'मुझे ब्रह्मज्ञान नहीं चाहिए, तब यह वर दो जिससे कायमनोवाक्य से उनकी ही सेवा कर पाऊँ, जैसे इन आँखों से उनके भक्तों का दर्शन हो, इस मन से उनका ध्यान-चिन्तन और वाक्य के द्वारा उनका नाम-गुणगान जिससे हो सके और जिससे सर्वदा कृष्ण-भक्तों का संग मिल सके।"

"भक्ति पक्की होने पर सभी अवस्थाओं में इष्ट-दर्शन होता है। आँख खुली रहने पर भी ध्यान होता है, कथा कहते-कहते भी ध्यान लग जाता है। जैसे किसी के दाँत में दर्द है। वह सारे कर्म करता है, किन्तु उसी पीड़ा की ओर उसका मन रहता है। मैं भी पहले आँखें मूँद कर ध्यान करता था। बाद में सोचा, आँख मूँदने पर ईश्वर हैं और आँख खोलने पर ईश्वर नहीं? आँखें खुली रहने पर भी देखता हूँ कि वे (ईश्वर) सभी भूतों में निवास करते हैं।"

अस्त्येवमेवम् ॥२०॥

एवम् एवम् (इस प्रकार ही), अस्ति (है) ॥२०

भक्ति के जो लक्षण दिये गये हैं, वे केवल बात की बात नहीं हैं। भक्त के जीवन में ऐसी भक्ति का परिपूर्ण प्रकाश देखा जाता है ॥२०

भक्त केवल उन्हें (ईश्वर को) ही चाहते हैं। श्रीरामकृष्णदेव कहते हैं,—"मैंने उनसे केवल भक्ति चाही थी। हाथ में फूल लेकर माँ के पाद पद्मों में अर्पित कर रहा था, यह लो अपना पाप, यह लो अपना पुण्य—मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो अपना ज्ञान, यह लो अपना अज्ञान—मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो अपनी शुचि, यह लो अपनी अशुचि—मुझे शुद्धा भक्ति दो। यह लो अपना धर्म, यह लो अपना अधर्म, मुझे शुद्धा भक्ति दो।"

भगवान कपिल अपनी माता देवहूति को कहते हैं—

निषेवितानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥
मद्धिष्ण्य-दर्शन-स्पर्श-पूजा-स्तुत्यभिवन्दनैः।
भूतेषु मद्भावनया सत्वेनासङ्गमेन च ॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्तनाच्च मे।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहंक्रियया तथा ॥
मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥

भा० ३/२९-१५-१९

'श्रद्धापूर्वक निष्काम भाव से नित्य नैमित्तिक कर्म एवं हिंसारहित क्रिया योग का अनुष्ठान, मेरी प्रतिमा का दर्शन-स्पर्शन-पूजा स्तुति और वन्दन, समस्त प्राणियों में मेरा दर्शन करना, धैर्य और वैराग्य का अवलम्बन, महापुरुषों का मान-दान, दीनों के प्रति दया एवं समावस्थापन्न व्यक्ति के साथ मित्रवत व्यवहार, यम और नियम का पालन, अध्यात्मशास्त्र का श्रवण, मेरा नाम-संकीर्तन, सरलता, साधुसङ्ग और अहंकार त्याग—इन सारे साधनों के द्वारा भागवतधर्म का पालन करने वाले भक्त का चित्त अत्यन्त शुद्ध होता है। फलतः मेरे गुणों की कथा के श्रवणमात्र से उसका चित्त मुझमें लीन हो जाता है।" (क्रमशः)

□

ध्यान में मन क्यों नहीं जमता ?

—'सच्चिदानन्द'

जब हम ध्यान करने बैठते हैं तो मन एकाग्र नहीं होता। एक क्षण तो वह इष्ट का चिन्तन करता है, लेकिन दूसरे ही क्षण न जाने कहाँ भाग जाता है। यह सभी साधकों की समस्या है। अत: यह जिज्ञासा कि आखिर मन क्यों एकाग्र नहीं होता तथा ध्यान के समय उसे समेट कर एक स्थान पर लगाये रखने का उपाय क्या है, स्वाभाविक एवं समीचीन है।

इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व यह जानने का प्रयत्न किया जाय कि हमारा मन किसी भी समय एकाग्र नहीं होता या केवल ध्यान के समय ही नहीं होता। इसका उत्तर खोजने पर हम पायेंगे कि कुछ विषयों में तो हम एकाग्र हो जाते हैं किन्तु, अन्य में नहीं। एक विद्यार्थी कहानी तथा उपन्यास पढ़ने में, तथा खेलों का आँखों-देखा हाल सुनने में आसानी से एकाग्र हो जाता है, किन्तु पाठ्य-पुस्तक पढ़ने अथवा कक्षा में गुरु जी द्वारा पढ़ाये जा रहे विषय को सुनने में कठिनाई अनुभव करता है। नव-विवाहित वर-वधू, अथवा प्रणय में पड़े युवक-युवती को एक दूसरे के चिन्तन में रात-दिन डूबे रहने में कोई अड़चन नहीं होती। तात्पर्य यह है कि हममें से प्रत्येक के जीवन में अभिरुचि के कुछ केन्द्र या विषय-विशेष होते हैं जिनमें मन का निविष्ट होना आसान होता है। इसका अर्थ यह हुआ कि ध्यान में मन के एकाग्र न होने का एक महत्त्व-पूर्ण कारण भगवच्चिन्तन में रुचि का अभाव है। ध्यान-जप करना हमारे लिये कड़वी दवाई पीने के समान है, जिसके लिये लालायित होना तो दूर रहा, जिसकी समाप्ति पर हम राहत की सांस लेते हैं।

यही नहीं, हम ध्यान व भगवच्चिन्तन को अपने जीवन के लिये आवश्यक ही नहीं मानते। भोजन हमारे जीवन का अनिवार्य अँग है! क्योंकि उसके बिना जीवन नहीं चल सकता। उसी प्रकार अर्थोपार्जन, परिवार की देखभाल, मित्रों से मिलना तथा समाचार पत्र पढ़ना आदि दैनन्दिन कार्य उपयोगी तथा जीवन के लिए अनिवार्य मालूम होते हैं। लेकिन भगवच्चिन्तन तथा ध्यान? उसके बिना इतने वर्ष तो आसानी से व्यतीत हो ही गये हैं! उसकी आवश्यकता ही क्या? तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शरीर को स्वस्थ तथा सबल बनाये रखने के लिए पौष्टिक आहार आवश्यक है, उसी प्रकार मन तथा आत्मा को स्वस्थ रखने के लिये ध्यान आवश्यक है, यह सत्य हम हृदयंगम नहीं कर पाते।

ध्यान के अच्छा न होने का एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक कारण है। हम अपने पूरे मन से भगवच्चिन्तन नहीं करना चाहते। यदि चेतन मन भगवान का ध्यान करना चाहता है, तो अचेतन मन नहीं चाहता। अचेतन मन में जन्म-जन्मान्तरों के न जाने कितने संस्कारों का कूड़ा-कर्कट भरा हुआ है। काम, क्रोध, लोभ तथा भोग के संस्कारों की परत पर परत जमी पड़ी हैं। जब मन का चेतन भाग शुभ चिन्तन करने का प्रयत्न करता है, तब भोगपरायण भाग को लगता है कि उसका अस्तित्व खतरे में है और तब-मन में छिपे ये शत्रु विद्रोह कर उठते हैं। इसलिये प्रारम्भिक अवस्था में साधक के मन में शुभ और अशुभ भागों में बाकायदा एक संग्राम छिड़ जाता है। यही कारण है कि ध्यान में सफलता के लिये यम-नियमों का पालन तथा कर्मयोग द्वारा चित्त-शुद्धि को इतना महत्त्व दिया जाता है।

संक्षेप में ध्यान में सफलता प्राप्त करने के लिये ध्यान की अनिवार्यता को गहराई से समझना, उसके लिये तीव्र उत्कण्ठा जगाना, अपने इष्ट के प्रति अनुराग पैदा करना तथा नैतिक जीवनयापन करना आवश्यक है।

ध्यान की लगन तथा उसके लिये चाह बढ़ाना साधक का पहला कार्य है। ऐसे सन्त-महापुरुषों की जीवनी तथा उपदेशों का पठन-पाठन, जिन्होंने अपना समग्र जीवन भगवच्चिन्तन में अतिवाहित किया, जिनका जीवन ध्यान-केन्द्रित था, इसमें अत्यन्त सहायक होता है। ध्यानप्रवण जीवन का अर्थ यह नहीं कि अन्य सभी कार्यों को त्याग कर रात-दिन केवल ध्यान ही किया जाये। इसके माने यह हैं कि ध्यान को अपने दैनन्दिन जीवन का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य बना लिया जाये, तथा अन्य सभी कार्यों को इस प्रकार किया जाये कि वे ध्यान में सहायक हों। हममें ध्यान के प्रति ऐसी लगन हो कि हम उसके बिना न रह सकें।

ध्यान के समय दो प्रकार के विचार मन को विक्षिप्त कर सकते हैं। पहले वे जो दैनन्दिन क्रिया-कलापों से सम्बन्धित होते हैं तथा दूसरे पूर्व-स्मृतियाँ तथा अचेतन मन से उभरने वाले सुप्त संस्कारों से सम्बन्धित होते हैं। संस्कारों का क्षीण होना तो समय सापेक्ष है लेकिन दैनन्दिन चर्या को नियंत्रित कर, तथा सभी कार्यों को भगवत केन्द्रित कर हम बहुत हद तक ध्यान की समस्या सुलझा सकते हैं। स्वामी ब्रह्मानन्दजी का यह निर्देश कि कर्म के पूर्व भगवान का स्मरण करो, कर्म के अन्त में भी ऐसा करो, तथा कर्म के बीच, जब कभी समय मिले भगवत्-स्मरण कर लो—ध्यान के लिये मन को प्रस्तुत करने में बहुत सहायक होगा।

साधक का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य इष्ट के प्रति अनुराग पैदा करना है। जिस प्रकार चन्दन घिसने से चन्दन की तथा पुष्पों को हाथ में लेने से पुष्पों की सुगन्ध मिलती है, उसी प्रकार इष्ट की कथा श्रवण, लीला चिन्तन, पूजा, अर्चना तथा नाम-गुण-गान करने से धीरे-धीरे उनके प्रति अनुराग उपजता है। तब ध्यान में भी रस मिलने लगता है—वह मधुमय हो जाता है।

महर्षि पतंजलि प्रणीत अष्टांग योग प्रणाली में ध्यान का अति-उच्च अर्थात् सातवाँ स्थान है। योग के आठ अंगों में अन्तिम तथा चरम अंग समाधि है, जो योग का लक्ष्य है और ध्यान उसके ठीक पहले की अवस्था है। अतः ध्यान इतनी आसानी से नहीं सध सकता। वस्तुतः जिसे सामान्यतः ध्यान का बड़ा नाम दिया जाता है वह ध्यान है ही नहीं। हम ध्यान करने का प्रयास भर करते हैं। हम सभी के द्वारा धारणा कहलाने वाली, ध्यान के पहले वाली सीढ़ी, का अभ्यास सहज ही किया जा सकता है। मन को एक देश अर्थात् सीमा विशेष में बाँध कर रखना 'धारणा' कहलाता है। "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा [पा० यो० सू० ३ : १]। उदाहरण के लिए कृष्ण-भक्त, श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला, माखन-चोरी, यमलार्जुन उद्धार, बकासुर-वध, कालिया-दमन आदि का चिन्तन कर सकते हैं, इसमें मन एक घटना से दूसरी घटना में भरसकेगा अवश्य, लेकिन वह वृन्दावन की सीमा के बाहर नहीं जायेगा। राम-भक्त भगवान राम के जन्म से रामराज्य तक की लीला का चिन्तन कर सकते हैं किन्तु मन को इस सीमा के बाहर न जाने दें। जिनके इष्ट श्रीरामकृष्ण हैं, वे दक्षिणेश्वर में अपने कमरे में बैठे, पंचवटी में ध्यान करते, माँ भवतारिणी की पूजा करते, अथवा गंगा के तट पर टहलते श्रीरामकृष्ण का ध्यान कर सकते हैं। मन को भटकने की छूट रहे, किन्तु दक्षिणेश्वर मन्दिर की चार-दिवारी तक ही। धीरे-धीरे इस दायरे को कम करके इष्ट के एक प्रसंग विशेष में मन को निविष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए।

साधक को सदा यह याद रखना चाहिये कि मन स्वभाव से ही बन्दर के समान चंचल है तथा यह चांचल्य बहुत दीर्घकाल तक बना रहता है। अतः तत्काल फल की न तो आशा करनी चाहिए और नहीं असफल होने पर निराश होना अथवा प्रयास करना त्यागना चाहिए। अभ्यास तथा वैराग्य चित्त वृत्ति निरोध के सर्वमान्य उपाय हैं जिनका निर्देश पतंजलि ने 'योग-सूत्र' में तथा भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में किया है। दीर्घकाल तक, निरंतर व्यवधान-रहित अभ्यास के लिये सदा तत्पर रहना चाहिए। स्वामी ब्रह्मानन्दजी नवजात बछड़े का दृष्टान्त दिया करते थे जो बार-बार गिरने पर भी खड़े होने का प्रयत्न करता रहता है, और अन्त में दौड़ने में भी सफल होता है। अतः निरंतर संघर्ष करते रहना चाहिए। इसके अतिरिक्त सफलता का कोई मार्ग नहीं है। ◘